

मेरे प्रिय निबन्ध

महादेवी जी के अत्यंत प्रिय
अपने ही निबंधों का संग्रह



नेशनल
पब्लिशिंग

हाउस

२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

ਮੇਰੇ ਪ੍ਰਿਥ
ਵਿਬੰਧ
ਮਹਾਦੇਵੀ

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

२३, हरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

धाराए

चौड़ा रास्ता, जयपुर

३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

ISBN 81—214—0025—2

मूल्य : ४०.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, हरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित /
द्वितीये संस्करण : १९८६ / सर्वोच्चार : श्रीमती महादेवी वर्मा / सरस्वती प्रिंटिंग
प्रेस, ए-६५,

सेक्टर-५, नोएडा-२०१३०१ में मुद्रित ।

[387 2(08B-04PB)786/N]

MERE PRIYA NIBANDH (Essays) by Mahadevi Verma

Price : Rs 40 00

यह सत्य है कि कविता और गद्य एक उत्साह से उत्पन्न होते हैं, किंतु उनकी दिशाएं एक नहीं रहती। एक को मनुष्य की आध्यात्मिक वृत्ति को जागृत करना है और दूसरे को उसकी वृद्धि को त्रियाशील बनाना है।

निबन्ध-क्रम

अपनी मात	६
संस्कृति का प्रश्न	१५
साहित्यकार : व्यक्ति और समष्टि	२०
छायावाद	३२
रहस्यवाद	६३
गीति-काव्य	८४
समाज और व्यक्ति	१०४
हमारा देश और राष्ट्रभाषा	११६
भाषा का प्रश्न	१२४
जोने की कला	१२७

अपनी बात

निबन्ध को अंग्रेजी के ऐसे (Essay) का पर्याय माना जाता है, किन्तु इन दोनों में पर्याप्त अंतर है। अंग्रेजी का 'ऐसे' फ्रांसीसी शब्द एसाई से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ किसी विषय पर गद्य में सहज, लघु और मुक्त साहित्यिक रचना है। ऐसी रचना में मुख्य निजीपन विशेष गुण है। इसके विपरीत निबन्ध जो नि + बन्ध + ल्युट प्रत्यय से बना है, अपने नाम में ही बंधन का संकेत देता है। जो सीमित विचार को क्रमबद्धता में बाधता है वह निबन्ध है और जो वैचारिक विस्तार को प्रकट रूप से बाधता है वह प्रबंध कहा जाएगा।

विचारों तथा तर्कों की सरणियों की क्रमबद्धता भारत के प्राचीन साहित्य में ही प्रारंभ हो गई थी। ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद्, दर्शन आदि में तर्कों का जैसा उपयोग हुआ है, वह सरिलिप्त रूप से वैचारिक, बौद्धिक तथा भावात्मक समृद्धि देता है और इस समृद्धि में बिखराव रोकने के लिए क्रमबद्धता स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य है।

प्रत्येक निबन्ध में संग्रहित होने के लिए जो सामंजस्य आवश्यक होता है वह लेखक के निजीपन, बौद्धिक क्रिया तथा निरीक्षणमूलक अनुभूति का सम्मिश्रित प्रतिफलन है।

सामान्यतः निबन्ध का, वर्णनात्मक, निवेचनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक आदि में जो वर्गीकरण किया गया है उसमें विभाजक रेखाएँ ऐसी कठिन नहीं हैं कि एक को दूसरे में अनुस्यूत होने से रोक सकें। वर्णनात्मक में भाव का स्पर्श न हो या भावात्मक में विचार का प्रवेश न हो, यह असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। संभवतः इसका कारण मनुष्य का वह मानसिक गठन है, जिसमें एक प्रवृत्ति के प्रधान हो जाने पर भी अन्य प्रवृत्तियाँ गीण रहकर उसमें सहयोग करती रहती हैं।

मेरे विचार में निबन्ध का वर्गीकरण विषय से अधिक शैली पर निर्भर है जो लेखक की निश्चिता से संचय रहती है।

आधुनिक युग में निबंध-लेखन का ज्ञान-विज्ञान की अनेक दिशाओं में प्रवेश और विस्तार हुआ है, अतः उमें नवीन तथ्यों के उद्घाटन में भी प्रतिष्ठा मिल गई है। प्रत्येक विद्वत् सम्मेलन में ज्ञान के गभीर विषय पर नयी शोध संबंधी पत्रक पढ़े जाते हैं तथा वे वादविवाद के साधन बनते थे। ये निबंध साहित्यिक न होने पर भी अपनी रूप-रेखा में साहित्य का सहयोग लेते हैं।

इनके अतिरिक्त साहित्यिक निबंधों में एक अधिक सहज, स्वच्छंद विधा का भी विकास हुआ है जिसे ललित निबंध के नाम से जाना जाता है। आधुनिक युग में आलोचना का जैसा विविध रूपी विकास हुआ है, उमने भी आलोचनात्मक निबंध को नवीन मनोविश्लेषक पृष्ठभूमि दी है।

इस प्रकार आधुनिक युग में साहित्य की अन्य विधाओं से अधिक निबंध का उपयोग तथा विस्तार हो रहा है। शिक्षक, विद्यार्थी, शोधकर्ता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, समाजशास्त्री आदि सभी इस विधा के माध्यम से ही अपनी मान्यताएँ व्यक्त करते हैं। ऐसी स्थिति में निबंध को एक सर्वस्वीकृत स्थिति प्राप्त हो चुकी है।

निबंध प्राचीन युगों में भी साहित्य में मीमित नहीं रहा और आज तो उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा देने के लिए लेखकों को विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा, अन्यथा वह समाचार-पत्रों के पृष्ठों को भरकर भी उन्हीं के समान पुराना होकर खो जाएगा। रिपोताज, दैनिकी, समाचार-लेखन आदि भी गभीर निबंधों से अधिक आकर्षक रूप में प्रस्तुत किए जा रहे हैं क्योंकि समाचार-पत्रों की लोकप्रियता उन पर निर्भर है।

साहित्यिक निबंध एक विशिष्ट वर्ग में आते हैं अतः उनका प्रसार भी सीमित रहना स्वाभाविक है।

'गद्य कवीना निकप वर्दान्ति' कहकर विद्वानों ने गद्य को कविता की कसौटी मान लिया है और कसौटी तो किसी मूल्यवान् धातु के खरे-खोटेपन की जाच के लिए होने के कारण धातु से अधिक महत्त्व की होती है।

मेरे विचार में कविता अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के उच्चिन्न चयन पर निर्भर रहती है जो शिल्प है। शब्दों का काव्यानुकूल चयन तभी संभव है जब कवि किसी भाषा के शब्दकोश, उसमें प्रयुक्त शब्द-शक्तियों, मणिमाओं आदि का ज्ञान रखता हो। कविता किसी भाषा का फूल है, जिसमें उक्त भाषा की रंगमयता, रस, सौरभ, पराग आदि मिलकर ही उसे उल्लास का केंद्र बना देते हैं। रसास्वाद के लिए भाषा की अंतरंग छवि को बहिरंग बनाना आवश्यक हो जाता है। इस कार्य के लिए गद्य का समर्थ लेखन कवि का विशेष गुण मान लिया जाये तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता।

सत कवियों ने मधुकण्ठी भाषा का प्रयोग किया है, किंतु उसे लोकमानस

के निकटलाने के लिए लोकभाषा की सभी भगिमाओं को उन्होंने स्वीकार किया है। लौकिक प्रतीकों द्वारा अलौकिक तत्त्व को जनमानस में पहुँचाना अपने आप में एक चमत्कार है और इसे सभव करने वाले सतो का लोक-मानसिकता तथा लोकभाषा दोनों पर अधिकार होना स्वाभाविक है।

गोस्वामी तुलसीदास तथा प्रज्ञाचक्षु सूर का अवधी और ब्रजभाषा का ज्ञान असीम और अथाह है।

आधुनिक युग के कवियों का गद्यलेखन भी गद्य को कविता का निकट प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

अपने गद्य के लिए कुछ कहना मेरे लिए कठिन है, परन्तु गद्यलेखन की ओर अभिरुचि के लिए मैं अपने बाल्यकाल तथा प्रारम्भिक विद्यार्थी जीवन के शिक्षकों की आभारी हूँ।

समस्यापूर्ति जैसे विषय के साथ लेख लिखने की बाध्यता न होने पर मेरी प्रवृत्ति उस दिशा में न होती, ऐसा मेरा विश्वास है।

कविता ने जैसे मेरी अनुभूति को गहराई दी है, गद्य ने उसी प्रकार मेरे बोध को व्यापक क्षितिज दिया है। गद्य में अपने स्मरण, यात्रा-वर्णन आदि को मैं निजीपत्र से युक्त ललित साहित्य ही मानती हूँ, क्योंकि उस पर भाव का एक झीना बादल छाया रहता है। उसमें मेरी अपनी पहचान भी है और दूसरों की भी।

निबन्ध मेरे अध्ययन-अध्यापन आदि का परिणाम है, जिन्हें मैं तर्क तथा क्रमबद्धता का उपयोग करने का अवकाश पा जाती हूँ। बाल्यकाल में पढ़ाने वाले गुरु एक ही विषय पर दस दस बार तब तक लिखवाते रहते थे, जब तक उनको पूर्ण सतोष न हो जाता था। मैं भी आज जब अपने विद्यार्थियों को ऐसा दंड देती हूँ तब अनायास अपने गुरु का स्मरण हो आता है।

मेरी सहानुभूति ने मुझे समाज के दलित-पीडित व्यक्तियों के तादात्म्य की शक्ति देकर ऐसी जीवनदृष्टि दे दी है, जिससे मेरे लेखन को आलोक मिलता है।

आज के लेखन में जो भीगे हुए यथार्थ का प्रश्न उठाया जाता है वह तर्क की कसौटी पर ठहरने में असमर्थ ही सिद्ध होगा।

अनेक वर्ष पहले मैंने जो यथार्थ और आदर्श की विवेचना की थी वह आज भी सत्य है। एक ही परिस्थिति शव में एक-सी प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करती, अतः व्यक्ति का भोगा हुआ यथार्थ सीमित तथा वैयक्तिक ही रहेगा। परन्तु मानव मन की क्या कुछ भिन्न है। शिला कण-कण में टूटकर भी जल में नहीं मिल पाती। इसके विपरीत जल की बूद भी समुद्र में मिल कर समुद्र हो जाती है। बाह्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया प्रत्येक मन पर भिन्न होगी, किन्तु मन की प्रतिक्रिया दूसरे मन पर वही होगी, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

सकृर्स्त का प्रश्न

दीर्घनिवाय मे मनुष्य के क्रमशः उन्नति और अवनति की ओर जाने के सवध मे कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति से विचित्र माम्य रखता है—

'उन लोगों मे एक दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता मे पुत्र के प्रति, पुत्र मे माता के प्रति, भाई मे बहिन के प्रति, बहिन मे भाई के प्रति, भाई मे भाई के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा, जैसे मृग को देखकर व्याध मे तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होता है। वे एक-दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथो मे पैंने शस्त्र होय। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रो से एक-दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्वो के वागे मे कुछ सोचेंगे 'न मुझे औरो से काम न औरो को मुझसे काम, अतः चलकर घने वृण-वन-वृक्षो मे या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन के फल-फूल खाकर रहा जावे।' फिर वे घने वृण वृक्षो मे या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन के फल फूल खाकर रहेंगे। एक सप्ताह वहा रहने के पदचातु वे घने से निकल कर एक-दूसरे का आलिंगन कर एक-दूसरे के प्रति शुभकामनाए प्रकट करेंगे। (चक्रवर्ति सिंहनाद सुक्त ३।३)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की सत्यता तो हमारे जीवन में साधारण हो गई है, परंतु दूसरे अंश की सत्यता का अनुभव करने के लिए संभवतः हमें इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब शस्त्रो की मृनमृनाहट मे जीवन का संगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया मे विकास का पथ खोना जा रहा है, तब सभ्यता की चर्चा व्यर्थ जैसी लगे तो आश्चर्य नहीं। परंतु जीवन के साधारण नियम मे विद्वत्ता रखने वाला यह जानता है कि मघन से सघन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नहीं रखता, वज्रपात का कठोर मे कठोर शब्द भी स्थायी हो

जाने की क्षमता नहीं रखता। जब मनुष्य का आत्मघाती आवेग शांत हो जावेगा, तब जीवन के विकास के लिए मृज्जशील तत्त्वों की खोज में, मांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

संस्कृति की विविध परिभाषाएँ संभव हो सकती हैं, क्योंकि यह विकास का एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप, रंग, आकार, बोलचाल, विचार, आचरण आदि में परिचिन हो जाना आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को मूलतः समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उन समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण सिंष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आंतरिक संस्कारों का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणितत्त्व को खोजता है, प्राणिनत्व में मनस्तत्त्व को खोजता है और मनस्तत्त्व में तर्क तथा नीति को खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि में सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सुजन की निरंतरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाये हुए है।

साधारणतः एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूपरेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उनकी विशेष आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है, आंतरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-चेतनाओं की परीक्षा करें, तो दूर-दूर बसे मानव-समूहों में आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा। जीवन के विकास सबंधी प्रश्नों के सुलझाने की विधि में अंतर है, परंतु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अंतःचेतना में अंतर नहीं।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं और अनेक नाश के निकट जा रही हैं तब संस्कृति को विकास का क्रम क्यों माना जावे !

उत्तर सहज है—निरंतर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओं से घेरकर उसका बहना रोक दिया गया, तब हम उसे चाहे पोखर कहें चाहे झील,

किंतु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा ।

संस्कृति के सबंध में यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि वह ऐसी नदी है, जिसकी गति अनंत है । वह विशेष देश, काल, जलवायु में विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है ।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरंतर है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ चिरंतन हैं, पर मनुष्य अजर-अमर नहीं । एक पीढ़ी जब अतीत के बोहरे में छिप जाती है तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक-पथ में आती है । यह नवीन पीढ़ी मानव-सामान्य अतश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्तियों की विशेषताओं की उत्तराधिकारी भी, परंतु इन सबका उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियों में करना पड़ता है । अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विकसित बना देता है तो उसका मतव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चित क्षितिजता उत्पन्न कर देता है तो उसकी गाथा ही समाप्त हो जाती है । महान और विकसित संस्कृतियाँ इसलिए नहीं नष्ट हो गईं कि उनमें स्वभावतः अथ के कीटाणु छिपे हुए थे, बल्कि अशरीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नहीं दे सका । प्रकृति के अणु-अणु के सबंध में मितव्ययी मनुष्य ने अग्न्य मनुष्यों के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, वह अतीत की वैभव-कथा ही नहीं, वर्तमान की करुण गाथा भी है । उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है । संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयारमक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयारमक समष्टि है । इस प्रकार इसके मूल तत्त्व को समझने के लिए हम अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रखती है ।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति में आदि से अंत तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं । फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियों को छोड़ सहस्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोने में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू-भाग तक फैली हुई है । उसमें एक सीमा से दूसरी सीमा तक, आदि से अंत तक एक ही धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड़ मान लेना है । भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से बाढ़ छाटकर तिवाली हुई नहर नहीं, वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है । उसे अपवार-भरे गतों में

उत्तरना पडा है, ढालो पर बिछलना पडा है, पर्वत जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पडा है; पर इस लंबे क्रम में उमने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नहीं खूखने दी। उसका पथ विषम और टेढ़ा-मेढ़ा रहा है, इसी से एक घुमाव पर खड़े होकर हम शेष प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते हैं; परंतु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खंड-खंड में नहीं बट जाता।

जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धाराएं भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकास पाते रहने पर भी ऐसी समीप हैं कि एक के साध्य बन जाने पर दूसरी साधन बनकर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनों का समन्वय हमारे जीवन को बिबिधता देता रहता है। अनेक सिद्धांत हमारे जीवन के समान ही पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की अहिंसा को ले सकते हैं, जिससे पिछले अनेक वर्षों से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेष नैतिक बल मिलता आ रहा है। एक बड़े समर्प और निराशा के युग के उपरांत वैष्णव धर्म ने भी इसी मिश्रात का प्रतिपादन किया था। उसके पहले महाभारत काल का अनुसरण करने वाले युग में बुद्ध ने भी। इस मिश्रात का मूल हमें उपनिषद् ही नहीं, वेद के 'मा हिंस्यात् सर्वं भूतानि' में भी मिलता है। यज्ञ के लिए हिंसा के अनुमोदकों के साथ-साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मण काल में इन दोनों विचारधाराओं की रेखाएं कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञ धर्म से आत्म-विद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषद् काल में वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचारधाराओं के सबंध में भी ऐतिहासिक अनुसंधान कुछ कम जानकारी न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है, जिसने हमारे जीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नयी दिशा दी। उसमें और वैदिक संस्कृति में विशेष अंतर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अंतिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियों के भार से दबे जीवन का संपूर्ण प्राण-प्रवेग है, जिसने सभी बाधाएं तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है; पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति समवेदना नहीं है। दूसरे में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुःखबीध-जनित करुणा है; परंतु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो नरक भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है, ऋग्वेद का ऋषि उसका

नाम-गता नहीं जानता। जिस नारी की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कपित होते रहे हैं, ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नहीं है। जिस दुःखवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है, ऋग्वेद का मनीषी उसके मवध में कुछ कहता-मुनता नहीं। इसके विपरीत बौद्ध सस्कृति का मनुष्य, रामायण काल की मतर्क परिणति और महाभारत के सघर्ष का उपसहार पार कर आया है, दुःख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवों से बुद्धिमान बन चुका है।

इसी से वैदिक सस्कृति अपनी यथार्थता में भी आदर्श के निकट है और बौद्ध सस्कृति अपनी बौद्धिकता से भी अधिक यथार्थानुमुखी है। एक प्रवृत्ति प्रधान और दूसरी अपरिग्रही है, परंतु दोनों विकास की ओर गतिशील हैं। आज की परिस्थितियों में अपने जीवन की स्वस्थ गति देने के लिए सांस्कृतिक विकास के मूल तत्वों को समझना ही पर्याप्त न होगा, उनका समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

✓ सस्कृति के सबध में हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरंतर निर्माण क्रम नहीं, पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसी से हम उसे अपने जीवन के लिए बठोर साधो बना लेते हैं। इस भ्रांति ने हम जीवन के मूल तत्वों को नवीन परिस्थितियों के साथ किसी सामाज्यपूर्ण सबध में रखने की प्रेरणा ही नहीं दी। हम तो अतीत के ऐसे कृपण उत्तराधिकारी हैं, जो दया भाग में से कुछ भी अपने ऊपर व्यय नहीं कर सकता और सतर्क पहरेदार बना रहने में ही कर्तव्य की पूर्ति मानता है।

✓ जीवन जैसे आदि से अंत तक निरंतर सृजन है, वैसे ही सस्कृति भी निरंतर सस्कार-क्रम है। विचार, ज्ञान अनुभव, कर्म आदि क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजन-क्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित हैं। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। सस्कृति के सबध में भी यही बात सत्य है। परंतु विकास की किसी स्थिति में भी जैसे शरीर और अतर्जगत के मूलतत्त्व नहीं बदलते, उसी प्रकार सस्कृति के मूल तत्वों का बदलना भी संभव नहीं।

आज की सर्वग्रामी परिस्थिति में यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहे, तो अपनी सांस्कृतिक चेतना को मूलतः समझना और उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैंकड़ों फीट नीचे भू-गर्भ में, गहरी गुफाओं में या उच्ची-ऊंची शिखारों में मिले हुए अतीत चैम्पस तक ही हमारी सस्कृति सीमित नहीं, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय में भी स्थापित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिह्नों की खोज नहीं, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक घन की खोज है और यह उत्तराधिकारी प्रत्येक भोपड़ी के कोने में उसे पाने को उत्कण्ठित बैठा है △

साहित्यकार : व्यक्ति और समष्टि

सृजन की दृष्टि से व्यक्तिगत होने पर भी साहित्य अपने रचनाकार के अनुरजन मात्र तक सीमित नहीं रहता ।

जिस प्रकार भाषा में वक्ता और श्रोता दो की स्थिति स्वयंसिद्ध है, उसी प्रकार साहित्य में दूसरा पक्ष अतनिहित है ।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी व्यापकता ही मानी गई है और यह व्यापकता स्वयं व्यक्तिगत हविर्विधिष्य का निपेक्ष है । मनुष्य एक विशेष सामाजिक परिवेश में उत्पन्न होता है । कुछ संस्कार उसे अपने परिवेश से उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं और कुछ उसके मधुर-कटु अनुभवों से बनते हैं । उसके कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं और कुछ समष्टिगत दायित्व, जिन्हें वह सामाजिक प्राणी होने के नाते स्वीकार करता है । व्यक्तिगत स्वार्थ और समष्टिगत स्वार्थों में संघर्ष की संभावना जिस सीमा तक कम होती जाती है, उसी सीमा तक हम किसी समाज को और उसके सदस्यों को संस्कृत कहते हैं ।

✓ मनुष्य की महानता उसके दायित्व की विशालता का पर्याय है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ समाज विशेष के स्वार्थ में ही लय नहीं हो जाता, बल्कि मानव-समष्टि के स्वार्थ या हित से एकाकार हो जाता है ।

✓ मनुष्य केवल प्राण-सवेदनयुक्त जीव ही नहीं है, वह असंख्य मानसिक संभावनाओं तथा सवेदन के विविध स्तरों का सघात है । बुद्धि की सचेतन प्रक्रिया और अतः करण की प्रवृत्तियों में सामंजस्य लाने का सचेतन प्रयास तथा उसमें आनंद की अनुभूति उसकी अपनी विशेषता है, जो उसे दोष जीवनसृष्टि से भिन्न कर देती है ।

केवल शारीरिक यात्रा के साधन तथा आत्मरक्षण की सहज चेतना उसमें अन्य प्राण-सवेदनयुक्त जीवों के समान होना स्वाभाविक है । परंतु अपनी स्थिति से असंतोष, अज्ञात स्थिति विषयक जिज्ञासा, अनुभूत तथ्यों के

आधार पर सर्वथा अनुभूत सत्यो तक पहुँचने का प्रयास, प्रयास में आनन्दमयी स्थिति की परिकल्पना, अप्राप्त लक्ष्य में आस्था आदि विशेषताओं के कारण ही वह विशिष्ट है।

अपनी इस विकासनिष्ठ क्रिया को अबाध रखने के लिए वह अपने बौद्धिक और मानसिक स्वरों का समन्वय तथा संशोधन नये-नये प्रकारों से करता आ रहा है। अपने सहज प्राप्त परिवेश से ही संचालित न होकर वह उम्र पर अपने अतर्जगत को भी प्रतिफलित करता चलता है। इस प्रकार उसकी गति से भौतिक विश्व की एक मानसी सृष्टि भी होती आ रही है।

दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य सभी ने जीवन के इस दोहरे विकास में योग दिया है। पर मनुष्य की व्यक्ति और समष्टिनिष्ठ तथा बुद्धि और भाव-निष्ठ अभिव्यक्तियाँ साहित्य की अधिक ऋणी हैं।

जीवन को समग्रता से स्पर्श करने के कारण तथा बुद्धि और अंतःकरण की विभिन्न वृत्तियों को संश्लिष्ट करने की क्षमता के कारण साहित्य सहज ही मनुष्य के रहस्य का उद्गीय बन गया है।

यह तो सर्वस्वीकृत है कि साहित्य-सृजन का कार्य ऐसे व्यक्त कर पाते हैं, जिन्हें उनके परिवेश तथा बुद्धि-अंतःकरण की वृत्तियों ने उपयुक्त साधनों से संपन्न कर दिया है। वे न अमानव है न अतिमानव, प्रत्युत, विकास के ऐसे बिंदु पर सामान्य मानव हैं कि जीवन और परिवेश में अव्यक्त हलचल भी उनकी अनुभूति में व्यक्त हो जाती है। साहित्य को चाहे किसी ने जीवन का अनुकरण माना हो चाहे कल्पना-स्रष्टि, चाहे जीवन-नीति का संचालक कहा हो चाहे सौंदर्य-बोध मात्र, परंतु उनके स्रष्टा की विशिष्ट प्रतिभा को सभी ने स्वीकार किया। केवल अभ्यास से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन संभव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नहीं करता, अन्य अतीत युगों की चर्चा ही व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में साहित्य को व्यक्तिगत रुचि मात्र मान लेना उसके युगांतर-व्यापी प्रभाव को अस्वीकार करना है।

साहित्य विशेष व्यक्तित्व का परिणाम है, इसी अर्थ में उसे व्यक्तिगत कहा जा सकता है, परंतु इस अर्थ में मानसिक ही नहीं भौतिक विकास भी वस्तुनिष्ठ रहेगा।

विकास के रहस्यमय क्रम में एक वस्तु विकसित होकर विकसित करती है और इसी प्रकार विकास की परंपरा अबाध चलती हुई विकास का मानदंड निर्माण करती है।

अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उसमें नये संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौंदर्यबोध उदय होता है और नये जीवन-दर्शन की उप-

लब्धि होती है। सारांश यह कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है। इसी से साहित्य-मृष्टि का लक्ष्य 'स्वात सुखाय' का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्त्ता को बनाने के साथ-साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है, क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन संवेदनो, सौंदर्य-बोधो और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।

फूल का विकास अपनी ही रूप-रंग-रसमयता नहीं है, क्योंकि वह अपनी मिट्टी और परिवेश का संयोजन, संवर्द्धन भी करता है। पौधा मिट्टी, धूप, पानी आदि नहीं बनाता, परंतु इनकी सम्मिलित शक्तियों का रसायन ग्रहण कर स्वयं बनाता और उसे व्यक्त करके अपने परिवेश को नवीन रूप-रंग-रसमय बनाता है।

मूर्तिकार न पाषाण बनाता है न छेनी का सोहा। वह केवल प्राकृतिक उत्पादनो और उनकी शक्तियों को संयोजित कर अपनी मानसी सृष्टि को साकार और प्रत्यक्ष कर स्वयं सतोष पाता तथा समष्टिगत परिवेश का संवर्द्धन करता है।

संगीतकार भी स्वरो का और तारो की धातु का सृजन नहीं करता। चित्रकार भी प्रकृति में बिखरी रंग-रेखाओ का स्रष्टा नहीं है। नृत्यकार भी गति का सृजन नहीं करता। शिल्पी पाषाण में अव्यक्त आकारो को व्यक्त आकार देकर, चित्रकार प्रत्यक्ष रंग-रेखाओ के संयोजन में किसी अंतर्निहित सामंजस्य को अवतार देकर और नृत्यकार विश्व में व्याप्त गति को जीवन की विविध चेष्टाओ में छंदायित कर जो सृजन करता है, वह व्यक्ति-सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि न माध्यम व्यक्तिनिष्ठ है और न बौद्धिक प्रक्रियाएं और मानसिक वृत्तियां केवल उसकी हैं। इसी से मनुष्य की अव्यक्त संभावनाएं तथा संवेदन किसी न किसी बिंदु पर सवके हो जाते हैं और सवके हो जाने में ही उनकी कृतार्पता है।

व्यक्ति से जिस सत्तागत अभिव्यक्ति अथवा अस्तित्वगत विशेषता का बोध होता है वह भौतिक जगत से अधिक संबद्ध है, परंतु ज्यो-ज्यो हम उसके भीतर प्रवेश करते हैं त्यो-त्यो ये कठिन रेखाएं गल-गलकर तरल होने लगती हैं। दो पक्ष भी समान नहीं हैं, पर दो मनुष्य आकृति में भिन्न होकर भी संवेदन के एक स्तर पर समान हैं।

इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियां कालांतरव्यापिनी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के स्रष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं ! जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय में साहित्य के चिह्न हैं, अतः उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा। पर जब हम उसे विशेष सामाजिक कर्म मान लेते हैं, तब यह समस्या मानसिक क्षेत्र से उतरकर सामाजिक घर्षों पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसका समाधान नये रूप में उपस्थित होता है।

यदि विशेष सामाजिक कर्म व्यक्ति का समष्टि को दान है तो वह दान देने वाले और पाने वाले के मानसिक तथा भौतिक परिवेश के अनुसार ही कम या अधिक महत्त्व पाता है। परंतु यह स्वीकार कर लेने पर कि साहित्यमृजन व्यक्तिगत रुचि मात्र न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है, साहित्यकार की समस्या सामाजिक प्राणी की ओर विशेष कार्यक्षम सामाजिक सदस्य की समस्या हो जाती है।

समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता। 'ममाना अजति' समान संचरण-शील व्यक्ति-समूह ही समाज है। इन व्यक्तियों में, व्यक्तिगत स्वार्थ की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषम आचरण में साम्य उत्पन्न करने वाले समझौते की स्थिति अनिवार्य रहेगी। व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थों में संघर्ष की संभावना ज्यों ज्यों घटती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति का परिवेश समष्टि के परिवेश तक फैलता जाता है और पूर्ण विकसित समाज में व्यक्ति के सर्वांगीण परिवेश की कल्पना ही कठिन हो जाती है। मनुष्य अपनी क्रियाशीलता को समाज को निवेदित कर देता है और अपने इस समर्पण से वह स्वयं एक विशाल और निरंतर सृजन का अक्षभूत हो जाता है। पर स्वस्थ समाज में व्यक्ति की क्रियाशक्ति की स्वाभाविक परिणति जीवन के उत्तरोत्तर विकास की सुविधा ही रहती है। जब ऐसा सारतम्य नहीं रहता, तब ऐसी चिच्छिन्न क्रिया कभी विद्रोह का पर्याय मानी जाती है और कभी अपराध की सजा पाती है।

स्वयं को शासित रखने के लिए समाज एक लिखित विधि निषेधमय विधान रखता अवश्य है, पर वह संचालित ऐसे अलिखित विधान से होता है, जो परंपरा, रुचि, आस्था, संस्कार, मनोरंजन आदि का सश्लिष्ट योगदान है। पूर्ण से पूर्ण समाज भी व्यक्ति के जीवन को सब ओर से घेर नहीं सकता, क्योंकि मानव स्वभाव का बहुत-सा अंश समाज की विधि-निषेधमयी सीमा रेखा के बाहर मुक्त और उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।

मनुष्य के जीवन का जितना अंश नीति, शिक्षा, आचार आदि सामाजिक सहिताओं के सम्पर्क में आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित माना जाएगा। समाज यदि मनुष्यों के समूह का नाम नहीं है तो मनुष्य भी केवल क्रियाओं का सघात नहीं है। दोनों के पीछे सामूहिक तथा व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष, विषाद आदि की प्रेरणा रहती है। आचरण की सेना के समान बचावद सिखा देना ही जीवन नहीं है, चरन् कर्म को प्रेरित करने वाले मनोविकारों के उद्गम खोजकर उनमें विकास की अनुकूलता या लेना जीवन का लक्ष्य है।

साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन से बाहर स्वच्छंद मानव-स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है। साहित्य एक ओर विधि-निषेध से बाहर उठने वाले मानव-मन को समष्टि

से बाधकर उसकी निरुद्देश्य उड़ान को धाम नेता है और दूसरी ओर समाज की दृष्टि से ओम्न मानव-स्वभाव की विविधताओं को उसके सामने प्रस्तुत कर सामाजिक मूल्यांकन को समृद्ध करता है।

इस प्रकार निर्वंश कुछ बंध जाता है और वद्ध के बंधन कुछ सिधिल हो जाते हैं।

मनुष्य को अपने लिए विशेष वातावरण ढूँढने नहीं जाना पड़ता। वह एक विशेष परिवेश में जन्म लेकर अपने विकास के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं से परिचित और अनुसामित होता चलता है। जैसे उसे मांस के लिए वायु अनायाम मिल जाती है, उसी प्रकार समाज का दान भी अयाधिन और अनजाने ही उसे प्राप्त हो जाता है।

जब तक वह अपने आपको जानने की स्थिति में पहुँचता है, तब तक समाज उसे एक साचे में ढाल चुकता है। परंतु यदि मनुष्य अपने इमी निर्माण से संतुष्ट हो सके तो उसमें और जड़ में अंतर ही क्या रहेगा!

वह दर्जी के थिले कपड़ों के समान समाज के विधि-नियमों को धारण कर लेता है और तब उनके तग या ढीले होने पर, सुंदर या कुरूप होने पर संतुष्ट-असंतुष्ट होता है।

यह सतोष-असतोष समाज के शासन की परिधि में नहीं आता, पर साहित्य इसी का मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दों में समाज के दान की जहा इति है, साहित्य का अर्थ उभी बिंदु से चलता है। अतः साहित्यकार का बर्म अन्य कर्मों को तोलने वाले तुला और बाटो में नहीं तुल्य सकता।

अन्य क्षेत्रों में समाज अपने सदस्यों की श्रियाशक्ति को अपने अधीन कर उनकी प्रतिभा और कुशलता के अनुसार उनका कार्य निश्चित कर देता है तथा उसके प्रतिदान में उन्हें जीवन-यात्रा की सुविधाएँ प्रदान करता है।

दोनों पक्षों का आदान-प्रदान इतने स्थूल धरातल पर स्थित है कि उनकी उपयोगिता के विषय में किसी सदेह का अवकाश कम रहता है।

भारी पैना तलवार गढ़ने वाले लौहकार के कार्य का महत्व भी समाज जानता है और हल्की अगूठी में रत्नों की बारीक जडाई करने वाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उसमें छिपा नहीं है।

कष्ट-लभ्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी की प्रत्यक्ष योजना का भी उसे ज्ञान है और मंदिर में मौन जप करने वाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना में भी उसका विश्वास है।

न्यायासन पर दंड-मुखकार का वितरण करने वाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय में उसे सदेह नहीं है और समाज की नयी पीढ़ी को परंपरानुसार शांत, दांत बनाने में लगे हुए शिक्षा-शास्त्री के कार्य का भी उसके पास लेखा-जोखा है।

समाज ने इन विविध कार्यों को, अधिकारी व्यक्तियों को, स्वयं सौंपा है। और उन कर्तव्यों के विषय में एक परंपरागत शास्त्र भी पूर्व निश्चित है। वे कैसे करते हैं, यह दूसरा प्रश्न है, परंतु 'वे क्या करें' और क्या न करें के विषय में द्विविधा नहीं है।

कठिन दंड के पात्र को दंड कम मिले या न मिले, मतभेद का विषय हो सकता है, परंतु दंड-भुक्ति-विधान समाज-स्वीकृत है और न्याय का कार्य समाज द्वारा किसी को सौंपा गया है।

प्रत्येक सामाजिक सस्था समाज का अंग है और वह मनुष्य के जीवन के उन्हीं अंशों से संबद्ध रहती है, जिन पर समाज की सत्ता है।

मानव-स्वभाव का जो अंग समाज के विधि-निषेध की परिधि से बाहर अस्तित्व रखता है, उसके लिए सामाजिक सस्था नहीं बनाई जा सकती, पर उस तक समष्टि के सुख दुःखों की अनुभूति पहुंचाकर उसे समाजोन्मुख किया जा सकता है।

परंतु यह कार्य बड़ी अभिन्न कर सकता है, जिसे समाज के सौंदर्य और विरूपता, सुख और दुःख की व्यष्टिगत पर सीधे अनुभूति होती है। समाज अन्य क्षेत्रों के समान इसके हाथ में कोई विधि निषेध शास्त्र देकर नहीं कह सकता। 'मैं तुम्हें कवि, नाटककार कथाकार आदि के कर्तव्य पर नियुक्त करता हूँ, तुम मेरे विधान के स्थायित्व के लिए कार्य करो।'।

वस्तुतः समाज किसी साहित्यकार के अतर्जगत की हलचल से परिचित तब होता है जब वह अभिव्यक्ति पा लेती है। 'इस अभिव्यक्ति से पहले अनुभावक की शक्तियों से और उसकी अनुभूति की सीखता से समाज अपरिचित रहता है और यह अपरिचित एक सीमा तक व्यक्ति और समाज को दो परस्पर विरोधी पक्षों में भी खड़ा कर सकता है।

साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है, पर क्या उसी प्रकार निर्भर पर्वत की अपराजेय शक्ति नहीं है?

क्या पर्वत की शक्ति होने के कारण उसे उसकी बठोर शिलाओं से सघर्ष नहीं करना पड़ता? पर्वत से सर्वथा अनुकूल स्थिति रखने के लिए तो प्रपात को जमकर शिलाघात होना पड़ेगा।

सतान का जन्म माता की पीड़ा का भी जन्म है। इसी प्रकार साहित्य भी समाज में, समाज के लिए निर्मित होकर भी उसमें कोई उद्वेलन, कोई असंतोष उत्पन्न करता ही है। ऐसी स्थिति में समाज साहित्य को सामाजिक और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म के रूप में स्वीकार न करे तो आश्चर्य की बात नहीं।

जिस युग में समाज की दबी हलचलें उसने अन्य क्षेत्रों में भी कुछ असंतोष

उत्पन्न करने लगती हैं, उनमें साहित्य सहज नेतृत्व प्राप्त कर लेता है; परंतु जिन युगों में समाज के अवचेतन मन पर जड़ता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमें साहित्य को या तो स्वयं भी जड़ता का स्तर ओढ़ लेना पड़ता है या अकेले जूझना।

साहित्य के समष्टिगत लक्ष्य से व्यक्ति-वैचित्र्य की संगति नहीं बैठती।

लक्ष्यतः साहित्य जीवन के मूल्यों का सरक्षक, परीक्षक, सशोधक तथा आत्मीय प्रेषक रहता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति-वैचित्र्य मात्र उसके संवेदन की प्रेषणीयता के मार्ग में अवरोध ही सिद्ध होगा।

परंतु कभी-कभी साहित्यकार की भावित मानसी मृष्टि के मौंदर्य से उसका युग इतना अपरिचित रहता है कि उसे आत्मीयता नहीं दे पाता और परिणामतः उसे व्यक्ति-वैचित्र्य कहकर मुक्ति पा लेता है।

भवभूति ने ऐसी ही दुर्बल स्थिति को 'उत्पत्त्यतेऽस्ति मम कोऽपि स मानधर्मा' कहकर व्यक्त किया है।

समग्र तथा सश्लिष्ट जीवन लक्ष्य होने के कारण ही साहित्य किसी एकाकी लक्ष्य से सखट होकर सीमित हो जाता है, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र के मूल्यों का विरोधी है △

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओं में सामान्य विशेषता बन गई है। जड़ वस्तुओं में समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम में प्रतिफलित होने वाला आदान प्रदान नहीं। एक दिना दूसरी पर गिरकर उसे तोड़ सकती है, एक दूसरे के समीप रहकर उसे छाया दे सकती है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं कहो जाएगी, क्योंकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य में होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से मिलाकर, अनुभव को अनुभव में लय करके, मर्मस्पर्शित बुद्धि को अभेद और मर्मस्पर्शित अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनों से दूराति-दूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने में समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवों की भगति के बिना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम में बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयोगी भी एक-दूसरे के समीप होते हैं, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणाम-विशेष भिन्न हैं। पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी मयोदता में एक-दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर देने नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश में उमड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ समकालिक ज्ञान दोनों ही हमारे समीप कहे जाएँ, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता सषर्ण की जननी है। इसी से आज के युग में मनुष्य पाग है, परन्तु मनुष्य का शकाकुल मन पास आने वालों से दूर होना जा रहा है। स्वयं आदान प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है। हमारे विचार और विविधता-भरे देन की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर में ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया

उत्पन्न करने लगती हैं, उनमें साहित्य सहज नेतृत्व प्राप्त कर लेता है; परंतु जिन युगों में समाज के अवचेतन मन पर जड़ता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमें साहित्य को या तो स्वयं भी जड़ता का स्तर ओढ़ लेना पड़ता है या अकेले जूझना ।

साहित्य के समष्टिगत लक्ष्य से व्यक्ति-वैचित्र्य की संगति नहीं बैठती ।

लक्ष्यतः साहित्य जीवन के मूल्यों का सरक्षक, परीक्षक, संशोधक तथा आत्मीय प्रेषक रहता है । ऐसी स्थिति में व्यक्ति-वैचित्र्य मात्र उसके सवेदन की प्रेषणीयता के मार्ग में अवरोध ही सिद्ध होगा ।

परंतु कभी-कभी साहित्यकार की भावित भानमी मृष्टि के सौंदर्य से उसका युग इतना अपरिचित रहता है कि उसे आन्मीयता नहीं दे पाता और परिणामतः उसे व्यक्ति-वैचित्र्य कहकर मुक्ति पा लेता है ।

भवभूति ने ऐसी ही दुर्बल स्थिति को 'उत्पत्त्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा' कहकर व्यक्त किया है ।

समय तथा सश्लिष्ट जीवन लक्ष्य होने के कारण ही साहित्य किसी एकाकी लक्ष्य से सबद्ध होकर सीमित हो जाता है, परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह जीवन के किसी भी क्षेत्र के मूल्यों का विरोधी है △

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निष्ठ की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओं में सामान्य विशेषता बन गई है। जड़ वस्तुओं में समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम में प्रतिक्रिया होने वाला आदान प्रदान नहीं। एक शिला दूसरी पर गिरकर उसे तोड़ सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रहकर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं करती जाएंगी, क्योंकि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निष्ठता की परिणति उस साहचर्य में होती है, जो बुद्धि की बुद्धि से मिलाकर, अनुभव की अनुभव में लय करके, समष्टिगत बुद्धि की अभेद और समष्टिगत अनुभव की समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनों से दूराति-दूर की निष्ठता मात्र स्थिति मात्र उत्पन्न करने में समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवों की सगति के बिना अपूर्ण होने के साध-साध जीवन-क्रम में बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पक्ष के सहपात्री भी एक-दूसरे के समीप होते हैं, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः जिनके निम्न हैं। पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता में एक-दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तिष्क पर आकाश में उमड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ समवर्षक यान दोनों ही हमारे समीप बड़े जाएंगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विपरीत ही रहेंगे। जिनके साथ मन शकारहित नहीं हो सकता, उनकी निष्ठता सघर्ष की जगहों है। इसी में मात्र के युग में मनुष्य पाता है, परन्तु मनुष्य का सबाधुत मन पाव आने वालों में दूर होता जा रहा है। स्वल्प आदान प्रदान के लिए मनो की निष्ठता पहनी आवश्यकता है।

हमारे विज्ञान और विविधता-वरे देश की प्रतिभा ने अपनी विज्ञान-यात्रा के प्रथम प्रहर में ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐंगत मूल स्तोत्र लिया था,

जिमकी सीमा प्राणिमात्र तक फैल गई । हमारे विकाम-पथ पर व्यक्तिगत बुद्धि समष्टिगत बुद्धि के इतने समीप रही है और व्यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का ऐसा अभिन्न संगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नहीं उठा । इसी से संपूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसमें बटा जीवन एक ही सांस्कृतिक उच्छ्वास में स्पन्दित और अभिन्न रह सका है ।

कही किसी सुंदर भविष्य में, अपरिचय इस ऐक्य के मूढम बंधन को छिन्न न कर डाले, संभवतः इसी आशका से अतीत के चिंतकों ने देश के कोने-कोने में बिखरे जीवन को निकट लाने के साधनों की खोज की । ऐसे तीर्थ, जिनकी सीमा का स्पर्श जीवन की चरम गहनता का पर्याय है, ऐसे पुण्यपर्व, जिनकी छाया में वर्ण, देश, भाषा आदि की भित्तियां मिट जाती हैं, ऐसी यात्राएं, जो देश के किसी खंड को अपरिचित नहीं रहने देती, आदि-आदि सब अपरिचय को दूर रखने के उपाय ही बहे जाएंगे ।

अच्छे दुने हुए वस्त्र में जैसे ताना-बाना व्यक्त नहीं होता, वैसे ही हमारी सांस्कृतिक एकता में प्रयास प्रत्यक्ष नहीं है । पर है वह निश्चय ही युगों की अविराम और अथक साधना का परिणाम । राजनीतिक उत्थान-पतन, शासन-गत सीमाएं और विस्तार हमारे मन की बाधने में अममर्ष ही रहे, अतः किसी भी कोने से आने वाले चिंतन, दर्शन, आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय में अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने में समर्थ हो सकी ।

जीवन के सत्य तक पहुंचाने वाले हमारे सिद्धांतों में ऐसा एक भी नहीं है, जिसमें असंख्य तत्त्वान्वेषियों के चिंतन की रेखाएं न हों, उसे शिवता देने वाले आदर्शों में ऐसा एक भी नहीं है, जिसमें अनेक साधकों की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुंदर बनाने वाले स्वप्नों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें युग-युगों के स्वप्नद्रष्टाओं की दृष्टि का आलोक न हो ।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए, नदी-नालो की तो चर्चा ही अर्थ है । यदि अपनी क्रमागत एकता को सजीव और व्यापक रखने में हमारा युग कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं देता, तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नहीं कहा जाएगा ।

युगों के उपरांत हमारा देश एक राजनीतिक इकाई बन सका है, परंतु आज यदि हम इसे सांस्कृतिक इकाई का पर्याय मान लें, तो यह हमारी भ्रांति ही होगी ।

कारण स्पष्ट है । राजनीतिक इकाई जीवन की बाह्य व्यवस्था से संबंध रखती है, अतः वह बल से भी बनाई जा सकती है । परंतु सांस्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था में बनती है, जिसमें मनुष्य भेदों से अभेद की ओर, अनेकता से एकता की ओर चलता है । इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए

बुद्धि से बुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है।

इस संघर्ष में विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। हर क्रान्ति, हर संघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ बरदान और कुछ अभिज्ञाप लाते हैं। वर्षा की बाढ़ अपने साथ जो कूड़ा-कंकट बहा लाती है, वह उसके वेग में न ठहर पाता है, और न असुंदर जान पड़ता है, पर बाढ़ के उतर जाने पर जो कूड़ा-कंकट छिछले जल या तट से चिपककर स्थिर हो जाता है, वह असुंदर भी लगता है और जल की स्वच्छता भी नष्ट करता रहता है। दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरांत ही सहर्ष उसे घारा के बहाव में डालकर जल की स्वच्छ कर पाती है।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है। संघर्ष के दिनों में राजनीतिक स्वतंत्रता हमारी दृष्टि का केंद्र-बिंदु थी, और समस्याएँ भी जीवन के उसी अंश से संबद्ध रहकर महत्व पाती थीं। परंतु स्वतंत्रता की प्राप्ति के उपरांत संघर्ष-जनित वेग के अभाव में हमारी गति में ऐसी शिथिलता आ गई, जिसके कारण हमारे सांस्कृतिक स्तर का निम्न और जड़ हो जाना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षों की समस्याएँ अपने-अपने समाधान मागने लगीं। स्वतंत्रता, अप्राप्ति के दिनों में साध्य और उपभोग के समय साधन मात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप में निरपेक्ष और पूर्ण नहीं कही जाएगी। जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतंत्रता को जीवन के सर्वांगीण विकास का सध्य दे सकता है, उसके जीवन में गतिरोध का प्रदन नहीं उठता, पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अंत का दूसरा नाम है।

सभ्यता और संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटियाँ महत्वपूर्ण हो सकती हैं, परंतु प्रथम नहीं।

दर्शन, साहित्य आदि से संबद्ध उपलब्धियाँ तो व्यक्ति के माध्यम से आती हैं। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं और कभी उनका विरोध। एक अत्यंत युद्धप्रिय जाति में ऐसा विचारक या साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है, जो शांति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी, जो उसी प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे।

पर सभ्यता और संस्कृति किसी एक में सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्यांकन समाजबद्ध व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में ही संभव है। यह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान की कृतियाँ संभव होती हैं।

विगत कुछ वर्षों से हमारे जीवन से संस्कार के बंधन टूटते जा रहे हैं और यदि यही क्रम रहा, तो आमन्न भविष्य में हमारे लिए संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। हर पत्ते और सजीव फूल वृन्त से एक रसमयता में बंधे रहते हैं; पर बिखरने वाली पसलियाँ और झटने वाले पत्ते न वृन्त के रस से रसमय रहते हैं, न वृन्त की जीवनी शक्ति से संतुलित।

हमारे समाज के संबंध में भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन के व्यापक नियम से प्राणवत् है और न अपने देशगत संस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके बिखरने की पूर्व सूचना है या नहीं, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिह्न नहीं।

हमारे विषम आचरण, भ्रांत असंस्कृत आवेग आदि प्रमाणित करते हैं कि हमारा मनोजगत् ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियाँ कठिन हैं, पर यह भी मिथ्या नहीं कि हमारी मानसिक स्थिति हमें न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न संघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम सकते हैं, परंतु हमारी थकावट के मूल में किसी सुनिश्चित सत्य के प्रति आस्था नहीं है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण-क्षण करवटों बदलने की क्रिया है, जो उसकी चिंतनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन में ऐसे सक्रांतिकाल आते रहते हैं, जब उसकी माग्यताओं का कायाकल्प होता है, मूल्यांकन के मान नये होते हैं और जीवन की गति में पुरानी गहराई के साथ नयी व्यापकता का सगम होता है। परंतु, जैसे नवीन बेगवती सरग का पुरानी मंथर लहर में मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही संस्कार और अधिक संस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है, सुंदर और सुंदरतर, शिव और शिवतर, आशिक सत्य और अधिक आशिक सत्य में कोई तात्त्विक विरोध नहीं हो सकता। सुंदरतम्, शिवतम् और पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए हमें सुंदर, शिव और आशिक सत्य को क्रूरप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिस युग का मानव यह सिद्धांत भुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुंदर तक पहुँचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुँचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है, उसे अंधेरे में भटकना ही पड़ेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्यरहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अंतर-बाह्य संस्कारों की परीक्षा करनी पड़ती है, निर्माण में उसकी आस्था जगानी पड़ती है, संघर्ष को सृजन-योग बनाना पड़ता है।

आधुनिक युग में मानसिक संस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य, शिक्षा

आदि के जितने साधन उपलब्ध हैं, वे न द्रुतगामी हैं न सुलभ । पर, साधनों की खोज में हमारी दृष्टि यन्त्र-युग की विशाल बठोरता की छाया में भी जीवित रह सकने वाली मानव-संवेदना की ओर न जा सके, तो आश्चर्य की बात होगी ।

हमारे चारों ओर कभी प्रदेश, कभी भाषा, कभी जाति, कभी धर्म के नाम पर उठती हुई प्राचीरें प्रामाणित करती हैं कि बौद्धिक दृष्टि से हमारा लक्ष्य अभी कुहराच्छन्न है । पर जिस दिन हमारी बुद्धि में अभेद और सामंजस्य होगा, उस दिन हमारी सांस्कृतिक परंपरा को नयी दिशा प्राप्त हो सकेगी । जीवन के नव निर्माण में साहित्य और कला विशेष योगदान देने में समर्थ हैं, क्योंकि वे मानव-भावना के उद्गीय हैं । जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुंचने के लिए दुर्लभ पर्वतों और दुस्तर समुद्रों को पार करने में बर्षों का समय बिताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वे ही वैतासिक रहे हैं ।

आज जब विज्ञान ने बर्षों को घंटों में बदल दिया है, तब साहित्य, कला आदि मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें ?

हम विश्व-भर से परिचय की यात्रा में निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें, तो इसे शुभ राकुन ही मानना चाहिए । यदि घर में अपरिचय के समुद्र से विरोध और आगका के काले बादल उठते रहें, तो हमारे उजले सकल्य पथ भूल जाएंगे । अतः दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है △

छायावाद

अपने मूल्य को बढ़ाने के लिए दूसरों का मूल्य घटा देना यदि हमारे स्वभावगत न हो जाता तो हमने उस जागरण-युग को अधिक महत्त्व दिया होता, जिमकी उग्र वाणी ने पहले-पहल स्थायी खड्क से उसके लक्ष्य का नाम पूछा, जिमकी पैनी दृष्टि ने पहले बढ़कर विकृति के अक्षरों में प्रकृति की भाग्य-लिपि पढ़ी और जिसकी धीर गति ने सर्वप्रथम नवीन पथ के काँटे तोड़े।

परिवर्तन को संभव करने का श्रेय, राजनीति, समाज, धर्म आदि से संबंध रखने वाली परिस्थितियों को भी देना होगा, परंतु उस जागरण-काव्य के वैतालिकों में यदि सक्रिय प्रेरणा के स्थान में आज की विवादपणा होती तो संभवतः अब तक हम इसी उत्सर्जन में पड़े रहते कि नायिकाओं की प्रशस्ति वंशस्थ में गाई जावे या ऋग्वेद की श्रुचाएँ सर्वथा में उतारी जावें। विवाद का साधन से साध्य बन जाना बहुत स्वाभाविक होता है और साध्य बनकर वह हमारी बौद्धिक प्रेरणाओं और मानसिक प्रवृत्तियों का कोई और क्रियात्मक उपसंहार असंभव कर देता है, इसी में क्रिया के अकालक्षम आह्वान के अवसर पर हम विवाद की क्षमता नहीं रखते।

उस जागरण-युग में बहुत विस्तार से फैले हुए आदर्श और सारतः सक्षिप्त किये हुए यथार्थ के पीछे जो पीठिका रही, वह अनेकरूपी परिस्थितियों से बनी और भिन्नवर्णी परिवर्तनों से रंगी थी।

एक दीर्घकाल से कवि के लिए, संप्रदाय अथयवट और दरबार कल्पवृक्ष बनता आ रहा था और स्थिति का बदलना एक व्यापक उत्सर्जन-फेर के बिना संभव ही नहीं था, जो समय से सहज हो गया।

शासन के रंगमंच पर नयी शक्ति का आविर्भाव होते ही काव्य के केन्द्रों का बदलना क्यों संभव हो गया, इसे हम जानते ही हैं, परंतु शातव्य की पुनरावृत्ति भी अज्ञान की पुनरावृत्ति नहीं होती। यह तो स्पष्ट ही है कि नवागत शासक-सत्ता के दृष्टिकोण में धार्मिक कट्टरता न होकर व्यावसायिक लाभ प्रधान रहा

और व्यवसायी दूसरे पक्ष को न सतर्क प्रतिद्वंद्वी बनाना चाहता है, न सजग सत्रु। विरोध में दो ही स्थितियाँ संभव हैं। यदि विपक्ष मजबूत है तो जय के लिए निरंतर संघर्ष करना रहेगा और यदि निर्बल है तो पराजित होकर द्वेष से जलता और पड़पड़ रहता रहेगा। हमने अतिरिक्त व्यवसाय के लिए सन्ध्या भी विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि सपन्न से दरिद्र तक को धर लेने की दक्षिण ही व्यापारिक सफलता का मापदण्ड है। चतुर से धतुर व्यापारी भी केवल सम्राटों से व्यापार कर अपने सदय तक नहीं पहुँच सकता। अतः नवीन शासक-वर्ग विजेता के समारोह के बिना ही एक चतुर अतिथि के समान हंगारी देहली पर आ बैठा और आत्मबल के बहाने अपनी सत्कृति के प्रति हमारे मन में ऐसी परिचयभरी ममता उत्पन्न करने लगा कि उसे आगम में न बुला साना कठिन हो गया। एक सत्कृति जो पाँच-सौ वर्षों में न कर सकी, उसे दूमरी ने डेढ़ सौ वर्षों में कितनी पूर्णता के साथ कर लिया है, इसे देखना हो तो हम अपना-अपना जीवन देख लें।

हमारे बाह्य अधानुकरण और मानसिक दासता के पीछे न कुछ दोष है न क्षिन्नता। अतः यह तो मानना ही होगा कि वह नवागत विपक्षी परिधि पर विस्मृत मित्र की भूमिका में आया। इसके अतिरिक्त अतीत के निष्फल पर निरंतर संघर्ष से हम इतने द्वेष-जर्जर और क्लेशित हो रहे थे कि तीसरी दक्षिण की उपस्थिति हमारे लिए विराम जैसी सिद्ध हुई।

उसका धर्म भी भाले की नोक पर न आकर इजिप्शन की महीन सुइयों में आया, जिसका पता परिणाम में ही चल सकता था। इसी से जब एक बार इच्छाओं की राख में से रोप की चिनगारी बुरेदकर, हमने संघर्ष की दावाग्नि उत्पन्न करनी चाही, तब राख के साथ चिनगारी भी उड़ गई।

इस प्रकार तारकालिक रक्षा और निरंतर संघर्ष का प्रश्न न रहने से सामंत-वर्ग का महत्त्व बाढ़ के जल के समान स्वयं ही घट गया। इतना ही नहीं, वह वर्ग नवीन शासक सत्ता के साथ कुछ समझौता कर अपनी स्थिति को नये सिरे से निश्चिन्त करने में व्यस्त हो गया। ऐसी दशा में कवि किसके इंगित पर व्यापाम करता और कविता किस आधा पर दरबार में नृत्य करती? परिवर्तनों के उस समारोह में काव्य, ऐश्वर्य की कठिन रेखा पारकर जीवन की सरल व्यापकता में पथ खोजने लगा। सामान्य जीवन की स्वच्छता ने काव्य को अर्थ ही नहीं धर्म-केंद्रों से भी इतना विमुक्त कर दिया कि आज कवि का सत होना संभाव्य माना जाता है, पर सत में कवित्व अतीत की क्या मांग।

राजनीति में उत्तम और शासक-मत्ता की ओर निरंतर सतर्क दृष्टि को जब कुछ अवकाश मिला, तब वह धर्म और समाज को समय के साथ रखकर ठीक से देख सकी। हमारे धर्म के क्षेत्र में नवीन प्रेरणाओं का अभाव नहीं रहा,

परंतु तत्कालीन शासक-सत्ता की दृष्टि धर्म-प्रधान होने के कारण वे किसी न किसी प्रकार राजनीति को परिधि में आती रही और उससे उलझ-उलझकर अपनी विकासोन्मुख सक्रियता खोती रही। अतः वे बाह्य विरोध और आंतरिक रुद्धिप्रियता ने धर्म को ऐसी स्थिति में पहुंचा दिया, जहां वह काव्य को नयी स्फूर्ति देने में असमर्थ हो गया।

बदलो राजनीतिक परिस्थितियों में धर्म और समाज के क्षेत्रों में मुधारको का जो आविर्भाव हुआ है, उसे ध्यान में रखकर ही हम खड़ी बोली के आदि युग की काव्य-प्रेरणाओं का मूल्य आकर्म करेंगे; क्योंकि उन सबकी मूल प्रवृत्तियाँ एक हैं, साधन चाहे जितने भिन्न रहे हों।

ग्रन्थ में व्याप्त स्वरों को रागिनी की निश्चित रूप-रेखा देने वाली बीणा के समान हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूप-रेखा में स्पष्ट किया, वह उसके पूर्वगामी युग में भी अगरीरी आभास देता रहा था। यदि वह मुधार का सहचर न होकर कला का सहोदर होता, तो सम्भवतः उसके आदर्शवाद में बोलने वाले यथार्थ की कथा कुछ और होती। पर एक ओर काव्य की जड़ परंपरा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने के कारण और दूसरी ओर वातावरण में मड़राती हुई विषमताओं के कारण वह इतनी उग्र सतर्कता लेकर चला कि कला की सीमा-रेखाओं पर उसने विश्राम ही नहीं किया। पर यदि नवीन प्रयोग काव्य में जीवन के परिचायक माने जावें तो वह युग बहुत सजीव है और यदि विषय की विविधता काव्य की समृद्धि का मापदंड हो सके तो वह युग बहुत संपन्न है।

राष्ट्र की विशाल पृष्ठभूमि पर, प्रांतीय भाषाओं की अवज्ञा न करते हुए राजनीतिक दृष्टि से भाषा का जो प्रश्न आज मुसभाया जा रहा है, वह हमें खड़ी बोली के उन साहसी कवियों का अनायास ही स्मरण करा देता है, जिन्होंने काव्य की सीमित पीठिका पर, राम-कृष्ण-काव्य की घात्री देशी भाषाओं का अनादर न करते हुए भी, साहित्यिक दृष्टि से भाषा की अनेकता में एकता का प्रश्न हल किया था।

काव्य की भाषा बदलना सहज नहीं होता और वह भी ऐसे समय जब पूर्वगामी भाषा अपने माधुर्य में अजेय हो, क्योंकि एक तो नवीन अनगढ़ शब्दों में काव्य की उत्कृष्टता की रक्षा कठिन हो जाती है, दूसरे उत्कृष्टता के अभाव में प्राचीन का अम्यस्त युग उसके प्रति विरक्त होने लगता है।

और छंद तो भाषा के सौंदर्य की सीमाएं हैं, अतः भाषा-विशेष से भिन्न करके उनका मूल्यांकन असंभव हो जाता है। वे प्रायः दूसरी भाषा की मुडौलता को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते, इसी से या तो उसे अपने वधनों के अनुरूप काट-छांटकर बेडील कर देते हैं या अपनी निश्चित सीमा-रेखाओं

को, वही दूर तक फैलाकर और कहीं सनीचे बर अपने नाद-सौंदर्य-सबधी लक्ष्य ही से बहुत दूर पहुंच जाते हैं।

तद्भव और अपभ्रंश शब्दों के स्थान में शुद्ध सस्वृत शब्दों की प्रधानता देने वाली खड़ी बोली के लिए उस युग ने वही छंद चुने, जो सस्वृत वाक्य में उन शब्दों का भार ही नहीं सभाल चुके थे, नाद-सौंदर्य की बसोटी पर भी परसे जाकर खरे उतर चुके थे। विषय की दृष्टि से उस नाव्य-युग के पास जैसी चिन्ताला है, उसका विस्तार यदि विस्मित कर देता है तो विविधता की तूहल का आधार बनती है। उसमें पौराणिक गाथाएँ मोसती हैं और साधारण दृष्टांत कथाएँ मुत्तर हैं। अतीत का गौरव गाता है और वर्तमान विवृतियों से वदन का स्वर मढराता है। कृषक, श्रमजीवी आदि का श्रम निमग्न देता है और आर्त नारी की व्याथा पुकारती है। सापमुक्त पापाणी के समान परंपरागत जड़ता से छूटी हुई प्रकृति सबकी अपने जीविन होने की सूचना देने की नटवती है और भारतीयता से प्रसाधित जातीयता उदात्त-अनुदात्त स्वरों में अलख जगाती है।

आज की राष्ट्रीयता उस युग की वस्तु नहीं है। तब तब एक ओर तो उस सस्वृति के प्रति, हमारी मातृभावना विवसित नहीं हुई थी, जिसके साथ हमारा समर्थ दीर्घकालीन रहा और दूसरी ओर वर्तमान शासकता की नीति-मत्ता का ऐसा परिचय नहीं मिला था, जिससे हम उससे प्रति तीव्र असंतोष का अनुभव करते। भारतेंदु-युग में भी जातीयता ही राष्ट्रीयता का स्थान भरे हुए है। ऐसी स्थिति में शासक-सत्ता की प्रसस्ति या मिलना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, परंतु इस प्रकृति की वस्तुस्थिति से भिन्न करके देखने पर हम इसका वह अर्थ लगा देते हैं, जो अर्थ से विपरीत है।

नया पथ बूझ लेने वाले प्रपात के समान उग्र और साधन-सपन्न उस युग को देखकर यह प्रदत्त स्वाभाविक हो जाता है कि उसके सतर्क यथार्थ और निश्चित आदर्शों की छाया में वह सौंदर्ययुग कैसे उत्पन्न हो गया, जिसकी कथा सुरसा और पवनकुमार की कथा बन गई। उत्तर उस युग के अकगणित के सिद्धांत पर बढ़ने वाले यथार्थ और रेखागणित के अनुसार निश्चित बिंदुओं को जोड़ने के लिए फैलने वाले आदर्शों में मिलेगा। धर्म की विवृति से क्षुब्ध आदर्श ऐसी सात्विकता पर ठहरा, जहां वह पत्थर की रेखाओं के समान निस्प-दता में स्थायी होने लगा और समाज की विषमता से सजग यथार्थ ने ऐसी गृह्यहीनता अपनाई कि इतिवृत्त ही उसका अलंकार हो गया।

आदर्श यदि 'यह करो, वह न करो' में शास्त्र की ग्रथियाँ खोलता है तो यथार्थ 'यह वैसा है, वह ऐसा नहीं' में इतिहास के पृष्ठ पलटता है। रीति-कालीन प्रवृत्तियों की प्रतिग्रिया में उत्पन्न होने के कारण उसने उसकी दृष्टिया सहस्र नेत्रों से देखी, पर उसके वैभव को अनदेखा कर दिया, इसी से वह उस

सौंदर्य से सादात्म्य न कर सका, जो सब युगों के लिए सामान्य और सब कलाओं का प्राप्य है।

रीति-काल की सौंदर्य-भावना स्थूल और यथार्थ एकानी था; परंतु उक्तियों में चमत्कार की विविधता, अलंकारों में कल्पना की रंगीनी और भाषा में मधुरता का ऐश्वर्य इतना अधिक रहा कि उसकी संकीर्णता की ओर किसी की दृष्टि का पहुंचना कठिन था। ऐसे ही उत्तेजक स्थूल को राज्यच्युत करने के लिए जब कवि उपदेश-प्रवण आदर्श और इतिवृत्तात्मक यथार्थ के साधन लेकर आया, तब उसका प्रयास स्वयं उसी को थकाने लगा।

कला के क्षेत्र में जो यह जानता है कि स्वप्न झूठे नहीं होते, सौंदर्य पुराना नहीं होता, वही चिरंतन सत्य की चिर नवीन प्रतिमाओं का निर्माण कर सकता है और निरपेक्ष आदर्श को असंख्य रूपों में साकार कर सकता है। कला का उत्कृष्ट निर्माण द्वेष के पलों पर नहीं चलता, अस्त्रों की भूनभूनाहट में नहीं धोलता और युद्ध के आगम में नहीं प्रतिष्ठित होता। किसी रेखा को छोटी और अस्पष्ट सिद्ध करने के लिए जब हम उसके समानांतर पर दूसरी बड़ी और स्पष्ट रेखा खींच देते हैं तब हमारे उस निर्माण से कला के निर्माण की कुछ तुलना की जा सकती है। कलाकार निर्माण देकर ध्वंस का प्रदत्त सुलभाता है, ध्वंस देकर निर्माण का नहीं; इसी से जब किसी परंपरा का ध्वंस उसकी दृष्टि का केंद्र बन जाता है तब उसमें कला-सृष्टि के उपयुक्त समय का अभाव हो जाता है।

एक सौंदर्य के अनेक रूपों के प्रति कलाकार का वही दृष्टिकोण रहेगा, जो एक ही देवता की अनेक पूर्ण और अपूर्ण, अखंड और खंडित मूर्तियों के प्रति उपासक का होता है। जो खंडित है, विकलांग है, वह देवता की प्रतिच्छवि नहीं, फलतः पूजा के योग्य भी नहीं माना जाता, पर उपासक उसके स्थान में पूर्ण और अखंड की प्रतिष्ठा करके उसे जल में प्रवाहित कर आता है, बरणपीठ नहीं बना लेता।

कलाकार भी सौंदर्य की संहित और विकलांग प्रतिमाओं को समय के प्रवाह में छोड़कर उनके स्थान में पूर्ण और अखंड को प्रतिष्ठित करता चलता है। सौंदर्य के मंदिर में ऐसा कुछ नहीं है जो पैरों से कुचला जा सके। जिस युग में कलाकारों की ऐसी अस्वाभाविक इच्छा रहती है वह युग पूर्ण सौंदर्य-प्रतिमा में अपने आपको साकार करके आगम युगों के लिए नहीं छोड़ जाता।

परिस्थितियों की विषमता ने हमारे जागरण-युग को, पिछले सौंदर्य-धोष की संकीर्णता की ओर इतना जाग्रह रखा कि उसकी मुकुमार कल्पना और रंगीन स्वप्नों को इतिवृत्तात्मकता की बंदी पर आदर्श के कबज पहनकर जीवन-संग्राम के लिए परेड करनी पड़ी और जिस दिन वे अपनी घुमनेवाली वेश-

भूपा फेंककर विद्रोही बनने लगे, उसी दिन एक ऐसे युग का आरम्भ हुआ जिसमें वे जीवन की पीठिका पर चक्रवर्ती बन बैठे और अपनी पिछली दासता का प्रतिशोध लेने लगे ।

वर्तमान आकाश से गिरी हुई सबघरहित वस्तु न होकर भूतकाल का ही बालक है जिसके जन्म का रहस्य भूतराल में ही ढूँढा जा सकता है । हमारे छायावाद के जन्म का रहस्य भी ऐसा ही है । मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है । स्वच्छद घूमते-घूमते थककर वह अपने लिए सहस्र बघनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बघनों से ऊँझकर उनको तोड़ने में अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता है । छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है । उसके जन्म से प्रथम कविता के बघन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्यकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा । स्वच्छद छंद में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है ।

उन छायाचित्रों को बनाने के लिए और भी कुशल चित्तेरो की आवश्यकता होती है, कारण, उन चित्रों का आधार छूने या चर्मचक्षु से देखने की वस्तु नहीं । यदि वे मानव हृदय में छिड़ी हुई एकता के आधार पर उसकी संवेदना का रंग घटाकर न बनाये जाए तो वे प्रेतछाया के समान लगने लगे या नहीं, इसमें कुछ ही संदेह है ।

प्रकाश-रेखाओं के मार्ग में बिखरी हुई बदलियों के कारण जैसे एक ही विस्तृत आकाश के नीचे हिलोरे लेने वाली जल-राशि में कहीं छाया और कहीं आलोक का आभास मिलने लगता है उसी प्रकार हमारी एक ही काव्यधारा अभिव्यक्ति की भिन्न शैलियों के अनुसार भिन्नवर्णी हो उठी है ।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और दरबार के कल्पवृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड़ आया है । परिवर्तनों के कोलाहल में काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतरकर मध्यवर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वही है और सत्य कहे तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रों से वैभव की चकाचीध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत सकीर्णताओं के प्रति असहिष्णु बना दिया ।

छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के धर्म का ऋणी है, जो मूर्त और अमूर्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है । बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की असहता का भावण किया, हृदय की भाव-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौंदर्य-भक्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपरिचय कर दी,

जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि नामों का भार संभाल सकी।

छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिए, जो प्राचीन काल से बिब-प्रतिबिब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अतः अम मनुष्य के अधू, मेघ के जल-कण और पृथ्वी के ओस-बिंदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के समु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड अंधकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चंचलता-निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिंब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न महोदर हैं।

किंतु विज्ञान से समृद्ध भौतिकता की ओर उन्मुख बुद्धिवादी आधुनिक युग ने हमारी कविता के सामने एक विशाल प्रदनवाचक चिह्न लगा दिया है, विशेष-कर उस कविता के सामने जो भवन जगत् में परोक्ष की अनुभूति और आभास से रहस्य और छायावाद की सजा पाती आ रही है।

यह भावधारा मूलतः ज्वीन नहीं है, क्योंकि इसका कहीं प्रकट और कहीं छिपा सूत्र हम अपने साहित्य की सीमात-रेखा तक पाते हैं। कारण स्पष्ट है। किसी भी जाति की विचार-सरणि, भाव-गदति, जीवन के प्रति उसका दृष्टि-कोण आदि उसकी संस्कृति से प्रसूत होते हैं। परंतु संस्कृति की कोई एक परि-भाषा देना कठिन हो सकता है, क्योंकि न वह किसी जाति की राजनीतिक व्यवस्था मात्र होती है और न केवल सामाजिक चेतना, न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल धार्मिक विश्वास। देश-विदेश के जलवायु में विकसित जाति-विशेष के अतर्जगत् और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगों में भी अस्पष्ट और गीमा में भी असीम है—वैसे ही जैसे हमारे आंगन का आकाश। यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूपरेखा बदलती रहती है, परंतु मूल तत्त्वों का बदल जाना, तब तक संभव नहीं होता जब तक उस जाति के परो के नीचे से वह विशेष भूखंड और उसे चारों ओर से घेरे रहने वाला वह विशिष्ट वायुमंडल ही न हटा लिया जावे।

जहां तक इतिहास की किरणें नहीं पहुंच पाती, उसी सुदूर अतीत में जो जाति इस देश में आकर बस गई थी, जहां न वर्ष के तूफान आते थे, न रेत के बवंडर, न आकाश निरंतर ज्वाला बरसाता रहता था और न अविराम रोता, न तिल-भर भूमि और पल-भर के जीवन के लिए मनुष्य का प्रकृति से मंथन होता था, न हार, उस जाति की संस्कृति अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व रखती

है। सुजला, सुफला, शस्यश्यामला पृथ्वी के अब मे, मलय-समीर के झोको में भूलते हुए मुस्कराती नदियों की तरंग-मणिमा में गति मिलाकर, उन्मुक्त आकाश-चारी विहगों के कठ से कठ मिलाकर मनुष्य ने जिस जीवन का निर्माण किया, जिस कल्पना और भावना को विस्तार दिया, जिस सामूहिक चेतना का प्रसार किया और जिन अनुभूतियों की अभिव्यजना की, उसके संस्कार इतने गहरे थे कि भीषण रक्तपात और उथल-पुथल में भी अकुरित होने की प्रतीक्षा में धूल में दबे हुए बीज के समान छिपे रहे, कभी नष्ट नहीं हुए।

वास्तव में उस प्राचीन जीवन ने मनुष्य को, प्रकृति से तादात्म्य अनुभव करने की, उसके विशिष्टगत सौंदर्य पर चेतन व्यक्तित्व के आरोप की, उसकी समष्टि में रहस्यानुभूति की, सभी सुविधाएँ सहज ही दे डाली। हम बीर पुत्रों और पशुओं की याचना से भरी वेद-ऋचाओं में जो इनिवृत्त पाते हैं, वही उपा, महत् आदि को चेतन व्यक्तित्व देकर एक सहज और सरल सौंदर्यानुभूति में बदल गया है। फिर यही व्यष्टिगत सरल सौंदर्यबोध उस सर्ववाद का अप्रदूत बन जाता है, जिसका अकुर पुरुष मूकन में, विश्व पर एक विराट् शरीरत्व के आरोपण द्वारा प्रकट हुआ है। आगे चलकर इसी के निखरे रूप की झलक सृष्टि-सदृशी ऋचाओं के गभीर प्रश्नों में मिलती है, जो उपनिषदों के ज्ञान-समुद्र में मिलकर उसकी लहर मात्र बनकर रह गया। ज्ञानक्षेत्र के 'तत्त्वमसि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सोऽहम्' आदि ने उस युग के चिंतन को कितनी विविधता दी है, यह कहना व्यर्थ होगा।

तत्त्वचिंतन के इतने विकास ने एक ओर मनुष्य को व्यावहारिक जगत् के प्रति घोररागी बनाकर निष्क्रियता बढ़ाई और दूसरी ओर अनधिकारियों द्वारा, प्रयोगरूप सिद्धांतों को सत्य बन जाने दिया, जिससे रूढ़िवाद की सृष्टि संभव हो सकी। इसी की प्रतिक्रिया से उत्पन्न बुद्ध की विचारधारा ने एक ओर ज्ञानक्षेत्र की निष्क्रिय चेतना के स्थान में, अपनी सक्रिय करुणा दी और दूसरी ओर रूढ़िवाद को रोकने के लिए पुराने प्रतीक भी अस्वीकृत कर दिये। यह क्रम प्रत्येक युग के परिवर्तन में नये उलटफेर के साथ आता रहा है, इसी से आधुनिक काल के साथ भी इसे जानने की आवश्यकता रहेगी।

कविता ने जीवन में भी स्थूल जीवन से सवध रखने वाला इतिवृत्त, सूक्ष्म सौंदर्य की भावना, उसका चिंतन में अत्यधिक प्रसार और अंत में निर्जीव अनुवृत्तियाँ आदि क्रम मिलते ही रहे हैं। इसे और स्पष्ट करके देखने के लिए, उस युग के काव्य-साहित्य पर एक दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा, जिसकी पारा, बीर-नायिकावली इतिवृत्त के विषम शिलाखंडों में से फूटकर निर्गुण-सगुण भावनाओं की उर्वर भूमि में प्रशात, निर्मल और मधुर होती हुई रीति-कालीन रूढ़िवाद के क्षारजल में मिलकर गतिहीन हो गई। परिवर्तन का वही

क्रम हमारे आधुनिक काव्य-साहित्य को भी नई रूपरेखाओं में बांधता चल रहा है या नहीं, यह कहना अभी सामयिक न होगा।

रीतिकालीन रुढ़िवाद से थके हुए कवियों ने, जब सामयिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर तथा बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और प्रचार की सुविधा समझकर, ब्रजभाषा का जन्मजात अधिकार उड़ी बोली को सौंप दिया, तब साधारणतः लोग निराश ही हुए। भाषा तथीलेपन से मुक्त थी और उक्तियों में चमत्कार न मिलता था। इसके साथ-साथ रीतिकाल की प्रतिक्रिया भी कुछ कम वेगवती न थी। अतः उस युग की कविता की इतिवृत्तात्मकता इतनी स्पष्ट हो चली है कि मनुष्य की सारी कोमल और सूक्ष्म भावनाएं विद्रोह कर उठी। इसमें सदेह नहीं कि उस समय की अधिकांश रचनाओं में भाषा लचीली न होने पर भी परिष्कृत, भाव सूक्ष्मता-रहित होने पर भी सात्त्विक, छंद नवीनता-शून्य होने पर भी भावानुरूप और विषय रहस्यमय न रहने पर भी लोकपरिचित और संस्कृत मिलते हैं। पर स्थूल सौंदर्य की निर्जीव आवृत्तियों से थके हुए और कविता की परंपरागत नियम-शृंखला से ऊबे हुए व्यक्तियों को, फिर उन्हीं रेखाओं में बंधे स्थूल का न तो यथार्थ चित्रण रुचिकर हुआ और न उमका रुढ़िगत आदर्श भाषा। उन्हीं नवीन रूप-रेखाओं में सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति की आवश्यकता थी, जो छायावाद में पूर्ण हुई।

छायावाद ने नये छंदबधों में, सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति का जो रूप देना चाहा वह खड़ी बोली की सात्त्विक कठोरता नहीं सह सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द की ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तोलकर और काट-छांटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कसेवर दिया। इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी न किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौंदर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यक्तिगत सौंदर्य पर चेतनता का आरोप भी, परंतु अभिव्यक्ति की विशेष शैली के कारण, वे कहीं सौंदर्यानुभूति की व्यापकता, कहीं सदेवन की गहराई, कहीं कल्पना के सूक्ष्म रंग और कहीं भावना की मर्मस्पर्शिता लेकर अनेक वादों को जन्म दे सकी हैं।

पिछले छायापय को पार कर हमारी कविता आज जिस नवीनता की ओर जा रही है, उसने अस्पष्टता जैसे परिचित विशेषणों में, सूक्ष्म की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जमाव, यथार्थ से पलायनवृत्ति आदि नये जोड़कर, छायावाद को अतीत और वर्तमान में संबंधहीन एक आकस्मिक आकाशचारी अस्तित्व देने का प्रयत्न किया है। इन आक्षेपों की अभी जीवन में परीक्षा नहीं हो सकी है, अतः यह हमारे मानसिक जगत् में ही विशेष मूल्य रखते हैं।

कितने दीर्घकाल से वासनोन्मुख स्थूल सौंदर्य का हमारे ऊपर कैसा अधिकार रहा है, यह कहना व्यर्थ है। युगों से कवि को शरीर के अतिरिक्त और वही सौंदर्य का लेश भी नहीं मिलता था और जो मिलता था वह उसी के प्रसाधन के लिए अस्तित्व रखता था। जीवन के निम्न स्तर से होता हुआ यह स्थूल, भक्ति की सात्विकता में भी कितना गहरा स्थान बना सका है यह कृष्णकाव्य का श्रृंगार-वर्णन प्रमाणित कर देगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का सौंदर्यहीन इतिवृत्त उसे हिला भी न सकता था। छायावाद यदि अपने संपूर्ण प्राण-प्रवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौंदर्य को असंख्य रंग रूपों में अपनी भावना द्वारा सजीव करके उपस्थित न करता तो उस घारा को, जो प्रगतिवाद की विषम भूमि में भी अपना स्थान ढूँढती रही है, मोड़ना कब संभव होता, यह कहना कठिन है। मनुष्य की निम्नवासना को बिना स्पर्श किए हुए जीवन और प्रकृति के सौंदर्य को उसके समस्त सजीव वैभव के साक्ष्य चित्रित करने वाली उस युग की अनेक कृतियाँ किसी भी साहित्य को सम्मानित कर सकेंगी।

फिर मेरे विचार में तो सूक्ष्म के सबंध का कोलाहल सूक्ष्म से भी परिमाण में अधिक हो गया है। छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ, अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए संभव न हुआ; परंतु उसकी सौंदर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है, यह कहना स्थूल की परिभाषा को सकीर्ण कर देना है। उसने जीवन के इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये, क्योंकि वह स्थूल से उत्पन्न सूक्ष्म सौंदर्य-भक्ता की प्रतिक्रिया थी, अप्रत्यक्ष सूक्ष्म के प्रति उपेक्षित यथार्थ की नहीं, जो आज की वस्तु है। परंतु उसने अपनी क्षितिज से क्षितिज तक विस्तृत सूक्ष्म की सुंदर और सजीव चित्रशाला में, हमारी दृष्टि को दीढ़ा-दीढ़ाकर ही, उसे विकृत जीवन की यथार्थता तक उतरने का पथ दिखलाया। इसी से छायावाद के सौंदर्य-द्रष्टा की दृष्टि पुस्तित यथार्थ तक भी पहुँच सकी।

यह यथार्थ-दृष्टि यदि सक्रिय सौंदर्य-भक्ता के प्रति नितान्त उदासीनता या विरोध लेकर आती है तब उसमें निर्माण के परमाणु नहीं पनप सकते, इसका सजीव उदाहरण हमें अपनी विकृति के प्रति सजग पर सौंदर्य-दृष्टि के प्रति उदासीन या विरोधी यथार्थदर्शियों के चित्रों की निष्क्रियता में मिलेगा।

हमारी सामयिक समस्याओं के रूप भी छायायुग की छाया में निखरे ही। राष्ट्रीयता को लेकर लिखे गये जय-पराजय के गान स्थूल घरातल पर स्थित सूक्ष्म अनुभूतियों में जो मार्मिकता ला सके हैं, वह किसी और युग के राष्ट्रगीत दे सकेंगे या नहीं, इसमें संदेह है। सामाजिक आधार पर 'वह दीपशिक्षा-सी सांत, भाव में सीन' में तप पूत वैषम्य का जो चित्र है, वह अपनी दिव्य लौकिक-

कता में अकेला है।

सूक्ष्म की सौंदर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपों में इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह में युगों से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देने वाले गीत सहज ही बह गये। जीवन और कला के क्षेत्र में इनके द्वारा जो परिष्कार हुआ है, वह उपेक्षा के योग्य नहीं। पर अन्य युगों के समान इस युग में भी कुछ निर्जीव अनुकृतियाँ तो रहेगी ही।

जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। अपने व्यक्ति सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अव्यक्त सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकता है, वही उसका स्थूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। जहाँ तक धर्म-गत रुढ़िग्रस्त सूक्ष्म का प्रश्न है, वह तो केवल विधिनिषेधमय सिद्धांतों का संग्रह है, जो अपने प्रयोगरूप को छोड़कर हमारे जीवन के विकास में बाधक हो रहे हैं। उनके आधार पर यदि हम जीवन के सूक्ष्म को अस्वीकार करें तो हम जीवन के ध्वंस में लगे हुए अध्यात्म का जैसा विकास पिछले युगों में हो चुका है, विज्ञान का वैसा ही विकास आधुनिक युग में हो रहा है—एक जिस प्रकार मनुष्यता को नष्ट कर रहा है, दूसरा उसी प्रकार मनुष्य को। परंतु हम हृदय से जानते हैं कि अध्यात्म से सूक्ष्म और विज्ञान के स्थूल का समन्वय जीवन की स्वस्थ और सुंदर बनाने में भी प्रयुक्त हो सकता है।

वह सूक्ष्म जिसके आधार पर एक कुत्सित से कुत्सित, कुरूप से कुरूप और दुर्बल से दुर्बल मानव, धानर या वनमानुष की पंक्ति में न खड़ा होकर, सृष्टि में सुंदरतम ही नहीं, शक्ति और बुद्धि में श्रेष्ठतम मानव के भी कंधे से कंधा मिलाकर, उससे प्रेम और सहयोग की साधिकाय याचना कर सकता है, वह सूक्ष्म जिसके सहारे जीवन की विषम अनेकरूपता में भी एकता का तटु कूटकर हम उन रूपों में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, धर्म का रुढ़िग्रस्त सूक्ष्म जीवन न होकर जीवन का सूक्ष्म है। इससे रहित होकर स्थूल अपने भौतिक-माद द्वारा जीवन में वही विकृति उत्पन्न कर देगा, जो अध्यात्म-मरपरा ने की थी।

छायावाद ने कोई रुढ़िग्रस्त अध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों का संघर्ष न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौंदर्य-सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

सिद्धांत एक के होकर सबके हो सकते हैं, अतः हम उन्हें अपने चिंतन में

ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पूरक, ऐकात्मिक विकास पाते रहने को स्वतंत्र हैं। परन्तु इन सिद्धांतों से मुक्त जो सत्य है, उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही संभव है और उस दशा में वह प्रायः हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करने वाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखने वाला अध्यात्मवादी गांधी भी।

हमारा कवि भक्ति और अनुभूत सत्य की परिधि साधकर न जाने कितने अद्वैतपरीक्षित और अपरीक्षित सिद्धांत बटोर लाता है और उनके मापदण्ड से उसे मापना चाहता है, जिसका मापदण्ड उसका समग्र जीवन ही हो सकता था। अतः आज छायावाद के सूक्ष्म का खरा खोटापन कसने की कोई कसौटी नहीं है।

छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा, यह निर्विवाद है, परन्तु कवि के लिए यह दृष्टिकोण कितना आवश्यक है, इस प्रश्न के कई उत्तर हैं।

वास्तव में जीवन के साथ इन दृष्टिकोण का वही संबंध है जो शरीर के साथ शल्यशास्त्र और विज्ञान का। एक शरीर के खड-खड कर उसके संबंध में सारा ज्ञातव्य जानकर भी हमें उसके प्रति बीतराग रहता है, दूसरा जीवन को विभक्त कर उसके विविध रूप और मूल्य को जानकर भी हम उसके प्रति अनुरक्ति नहीं देता। इस प्रकार यह बुद्धि-प्रभूत चिंतन में ही अपना स्थान रखता है। इसीलिए कवि को इससे विपरीत एक रागात्मक दृष्टिकोण का सहारा लेना पड़ता है, जिसके द्वारा वह जीवन के सुंदर और कुरिस्त को अपनी संवेदना में रंग कर देता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण जीवन का बौद्धिक मूल्य देता है, चित्र नहीं; और यदि देता भी है, तो वे एक मानपेक्षी, शिरा, अस्थि आदि दिखाते हुए उस शरीर-चित्र के समान रहते हैं, जिसका उपयोग केवल शरीर-विज्ञान के लिए है। आज का बुद्धिवादी युग चाहता है कि कवि बिना अपनी भावना का रंग चढ़ाये यथार्थ का चित्र दे, परन्तु इस यथार्थ का कला में स्थान नहीं, क्योंकि वह जीवन के किसी भी रूप से हमारा रागात्मक संबंध नहीं स्थापित कर सकता। उदाहरण के लिए हम एक महान और एक साधारण चित्रकार को ले सकते हैं। महान् पहले यह जान लेगा कि किस दृष्टिकोण से एक वस्तु अपनी सहज मार्मिकता के साथ चित्रित की जा सकेगी और अब दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं और दो-एक रंग के घब्रों से ही दो छान में अपना चित्र समाप्त कर देगा, परन्तु साधारण एक-एक रेखा को उचित स्थान पर बँटा-बँटाकर उस वस्तु को ज्यों-का-त्यों वास्तव पर उतारने में सारी शक्ति लगा देगा। यथार्थ का पूरा चित्र तो पिछसा ही है, परन्तु वह हमारे हृदय को छू न

सकेगा। छू तो वही अधूरा सकता है, जिसमें चित्रकार ने रेखा-रेखा न मिला-कर आत्मा मिलाई है।

कवि की रचना भी ऐसे क्षण में होती है, जिसमें वह जीवित ही नहीं, अपने मपूर्ण प्राण-प्रवेय से वस्तु-विशेष के साथ जीवित रहता है, इसी से उसका शब्दगत चित्र अपनी परिचित इकाई में भी नवीनता के स्तर पर स्तर और एक स्थिति में भी मामिकता के दल पर दल खोलता चलता है। कवि जीवन के निम्न स्तर भी काव्य के उपादान से ला सकता है, परंतु वे उसी के होकर सफल अभिव्यक्ति करेंगे और उनके रागात्मक दृष्टिकोण से ही सजीवता पा सकेंगे।

यह रंगीन दृष्टिकोण वास्तव में कुछ अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति और जाति के जीवन में यह, एक न एक समय आता ही रहता है। विशेष रूप में यह उस तारुण्य का द्योतक है, जो चांदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढक देता है। जब हम पहले-पहल जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होते हैं, तब अपनी दृष्टि की रंगमयता से ही पथ के कुरूप पत्थरों को रंगीन और सास की सुरभि से ही काटों को सुवासित करते चलते हैं। परंतु जैसे-जैसे संघर्ष से हमारे स्वप्न टूटते जाते हैं, कल्पना के पंख झड़ते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारे दृष्टिकोण की रंगीनी फीकी पड़ती जाती है और अंत में पलित केशों के साथ इसके भी रंग घुल जाते हैं। यह उस वार्धक्य का सूचक है, जिसमें हमें जीवन से न कुछ पाने की आशा रहती है और न देने का उत्साह। केवल जो कुछ पाया और दिया है, उसी का हिसाब बुद्धि करती रहती है।

जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान् स्वप्नद्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में यह वार्धक्य संभव नहीं, इसी से आज न कवींद्र बूढ़ हैं, न बापू। इनमें जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नहीं, किंतु वह एक मृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखंड रूप की भावना नहीं कर सकता और दूसरी ओर चिंतन में ऐकात्मिक होता चला जाता है। उदाहरण के लिए हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते हैं, जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भूखंड के संबंध में सब ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आक सकेँगे और वर्ग-उपवर्गों में विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर, उसके संबंध में बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे; परंतु खंड-खंड में व्याप्त एक विराट् राष्ट्रभावना और व्यष्टि-व्यष्टि में व्याप्त एक विराट् जनभावना हमें इस दृष्टिकोण से ही नहीं मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बाटकर, जिस

प्रकार राष्ट्रीय भावना जागृत करना संभव नहीं है, केवल शतरंज के मोहरों के समान व्यक्तियों को हटा-बढ़ाकर जैसे जनभावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन को गहराई और विस्तार नाप लेना भी वैसा ही दुस्तर कार्य है। इसी से प्रत्येक युग के निर्माता को यथार्थ द्रष्टा ही नहीं स्वप्न-द्रष्टा भी होना पड़ता है।

छायावाद के कवि को एक नये मौल्य-लोक में ही यह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, परंतु यदि इसी कारण हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन को पूर्णता में देखना चाहेगे, तो हम भी असफल ही रहेंगे।

पलायनवृत्ति के संघर्ष में हमारी यह धारणा बन गई है कि वह जीवन-संग्राम में असमर्थ छायावाद की अपनी विदोषता है। सत्य तो यह है कि युगों से, परिचित से अपरिचित, भौतिक से अच्यारम, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ में आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और इसी क्रम से लौटने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायनवृत्ति को दिया जा सकता है। यथार्थ का सामना न कर सकने वाली दुर्बलता ही इसे जन्म देती है, यह कथन कितना अपरीक्षित है, इसका सबल प्रमाण हमारा चिंतन-प्रधान ज्ञान-युग दे सकेगा। उस समय न जाति किसी कठोर संघर्ष से निश्चेष्ट थी, न किसी सर्वग्रासिनी हार से निर्जीव, न उनका घर धन-धान्य से दान्य था और न जीवन सुख-संतोष से, न उसके सामने सामाजिक विकृति थी और न सांस्कृतिक प्लवस। परंतु इन सुविधाओं से अति परिचय के कारण उमका तारुण्य, भौतिक को भूलकर चिंतन के नवीन लोक में भटक गया और उपनिषदों में उसने अपने ज्ञान का ऐसा सूक्ष्म विस्तार किया कि उसके बुद्धिजीवी जीवन को फिर स्थूल की ओर लौटना पड़ा।

व्यक्ति के जीवन में भी यह पलायनवृत्ति इतनी ही स्पष्ट है। सिद्धार्थ ने जीवन के संघर्षों में पराजित होने के कारण महाप्रस्थान नहीं किया, भौतिक सुखों के अति परिचय ने ही धक्का दे उनकी जीवनधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया था। आज भी व्यावहारिक जीवन में, पढ़ने से जी धुराने वाले विद्यार्थी को, जब हम सिलोनों में घेरकर छोड़ देते हैं, तब कुछ दिनों के उपरांत वह स्वयं पुस्तकों के लिए विचल हो जाता है।

जीवन के और साधारण स्तर पर भी हमारी इस धारणा का समर्थन हो सकेगा। चिड़ियों से सेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ कृषक, जब अचानक सेत और चिड़ियों को भूलकर विरहा या खेती का उठता है, तब उममें रोम-मलिहान की कथा न बहकर अपने किसी मिलन-विरह की स्मृति ही दोहराता है। चरकी के बठिन पाषाण को अपनी सांसों में बोलत बनाने का निष्पन्न प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री, जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें

चक्की और अन्न की बात न होकर, किसी आश्रयन में पड़े भूने की मामिक कहानी रहती है। इसे चाहे हम यथार्थ की पूर्ति करें, चाहे उससे पलायन की वृत्ति, वह परिभाषातीत मन की एक आवश्यक प्रेरणा तो है ही।

छायावाद के जन्मकाल में मध्यम वर्ग में ऐसी क्रांति नहीं थी। आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था, सामाजिक विपमताओं के प्रति हम संपूर्ण शोष के साथ आज के समान जाग्रत नहीं हुए थे और हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर असंतोष का इतना स्याह रंग भी नहीं चढ़ा था। तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संप्रमय यथार्थ जीवन से पलायन के लिए ही, उस वर्ग के कवियों ने एक सूक्ष्म भावजगत् को अपनाया। हम केवल इतना कह सकते हैं कि उन परिस्थितियों ने आज की निराशा के लिए घरातल बनाया।

उस युग के कतिपय कवियों की कोमल भावनाएँ तो कारागार की कठोर भित्तियों से टकराकर कर्कश नहीं हो सकी; परंतु इसी कोमलता के आधार पर हम उन कवियों को जीवन-संधर्ष में अममय नहीं ठहरा सकेंगे।

छायावाद के आरंभ में जो विकृति थी आज वह घतगुण हो गई है। उस समय की क्रांति की चिनगारी आज सहस्र-सहस्र सपटों में फैलकर हमारे जीवन को क्षार किये दे रही है। परंतु आज भी तो हम अपने घात चिंतन में बुद्धि से खराद-खरादकर सिद्धांतों के मणि ही बना रहे हैं। हमारे सिद्धांतों की चरणपीठ बनकर ही जो यथार्थ आ सका है, उसे भी हमारे हृदय के बंद से टकरा-टकरा-कर ही लौटना पड़ रहा है। वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ न स्वीकार करके, एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष पलायन संभव है, उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने में असमर्थ प्रगतिवाद का चिंतन में पलायन सहज है। यदि विचारकर देखा जाये, तो जीवन से केवल भावजगत् में पलायन उतना हानिकारक नहीं, जितना जीवन से केवल बुद्धिपक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ सणों की गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा संपूर्ण सक्रिय जीवन मार लेता है।

यदि इन सब उलझनों को धार कर हम पिछले और आज के काव्य की, एक विस्तृत घरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा करें तो हमें दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे। जिस युग में कवि के एक और परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेशप्रवण इतिवृत्ति, उसी युग में उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौंदर्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने-कोने और सूक्ष्म सौंदर्यगत चेतना के अणु-अणु से परिचित हो चुका है; अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौंदर्य-दृष्टि और आज की यथार्थ दृष्टि का समन्वय कर सकें, पिछली

सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की झुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की, व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें, तो जीवन का सामंजस्य-पूर्ण चित्र दे सकेंगे। परंतु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि में निश्चल है और आज की, प्रतिक्रियात्मक विरोध में गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा, तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस विश्वास के लिए पर्याप्त कारण हैं। छायावाद आज के यथार्थ से दूर जान पड़ने पर भी भारतीय काव्य की मूल प्रेरणाओं के निकट है। उसके प्रति-निधि कवि, भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा प्राचीन साहित्य से विशेष परिचित रहे। पश्चिमीय और बंगला काव्य साहित्य से उनका परिचय हुआ अवश्य, परंतु उसका अनुकरण मात्र काव्य को इतनी समृद्धि नहीं दे सकता था। विशेषतः बंगला से उन्हीं जो मिला, वह तत्त्वतः भारतीय ही था, क्योंकि कबीर स्वयं भारतीय संस्कृति के सबसे समर्थ प्रहरी हैं। उन्होंने अपने देश की अध्यात्म-मुद्रा से पश्चिम का मूर्त्तिका-पात्र भर दिया, इसी से भारतीय कवियों ने उसके दान को अपना ही मानकर ग्रहण किया और पश्चिम ने कुलक्षता के साथ।

प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, कल्पनाओं की समृद्धि, स्वानुभूत-मुख दुःखों की अभिव्यक्ति, इस काव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो परस्पर सापेक्ष रहेगी।

जहाँ तक भारतीय प्रकृतिवाद का संबंध है, वह दर्शन के सर्ववाद का काव्य में भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियों का प्रतीक भी बनी, उसे जीवनसंगिनी बनने का अधिकार भी मिला, उसने अपने सौंदर्य और शक्ति द्वारा अखंड और व्यापक परम तत्त्व का परिचय भी दिया और वह मानव के रूप का प्रतिबिंब और भाव का उद्दीपन बनकर भी रही।

वेदकालीन मनीषी उसे अजर सौंदर्य और अजस्र शक्ति का ऐसा प्रतीक मानता है, जिसके बिना जीवन की स्वस्थ गति संभव नहीं। वह मेष को प्राकृतिक परिणाम नहीं, चेतन व्यक्तित्व के साथ देखता है।

वातत्विषो भस्तो वर्षनिणिजो यमा इव मुदृश सुपेशसः।

पिशङ्गाद्वा अरुणाद्वा अरेपस प्रत्वक्षसो महिना क्षीरिवः॥

ऋ० ५-५७-४

×

×

×

मुजातसो अनुपा रुमवक्षसो दिनो अर्वा अमृत नाम भेजरे।

ऋ० ५-५७-५

[विद्युत-प्राण (तीक्ष्ण कांति) से उद्भासित, जल-धारा के परिधान से वेष्टित यह मरुत् एक से सुंदर और शोभन है। अरुण-गीत बरने वाले इन वीरो ने विस्मृत बतरिख छा लिया है।
कल्याणार्थ उत्पन्न, ज्योतिर्नम वक्ष वाले इन आकाश के गायकों की ख्याति अमर है।]

ऐसे चित्र-गीतों ने मेघदूत के मेघ से लेकर आज तक के मेघ-गीतों को कितनी रूपरेखा दी है, यह अनुमान कठिन नहीं।

बादल गरजो !
घेर-घेर घोर गगन धाराघर ओ !

ललित ललित काले धुंधराले,
बाल कल्पना के-मे पाले,
विद्युत-छवि उर मे कवि नव जीवन वाले !

बज्र छिपा नूतन कविता फिर भर दो ! —निराला
इस गीत की रूप-रेखा ही नहीं, इसका स्पंदन भी ऐसी सनातन प्रवृत्ति से सबद्ध है, जो नये-नये रूपों में भी तत्त्वतः एक रह सकी। इसी प्रकार—
भ्रम्रासि रात्रि चमसो नविष्टो विश्व गोरूपं युवतिर्विभवि ।
चक्षुष्मति मे उदाती वपुषि प्रति त्वं दिव्यानक्षप्राण्यमुक्थाः ॥

(हे विधामदायिनी कल्याणि । तू पूर्ण पात्र के समान (धाति से भरी हुई है, नवीन है; सब ओर व्याप्त होकर पृथ्वीरूप हो गई है। सब पर दृष्टि रखने-वाली स्नेहशीले रात्रि । तूने आकाश के उज्ज्वल नक्षत्रों से अपना शृंगार किया है।
उपर्युक्त गीत में रात्रि का जो चित्र है वह तब से आज तक कवियों की मुग्ध करता आया है।

खड़ी बोली का वैतालिक प्रकृति की रूपरेखा को प्रधानता देता है—
अत्युज्ज्वला पहन तारक मुक्त-माला
दिव्याग्न्यरा बन अलौकिक कौमुदी से,
भावो भरी परम मुग्धकरी हुई थी
राका-कलाकार-मुखी रजनीपुरन्ध्री । —हरिऔध
छायावाद का कवि रेखाओं से अधिक महत्त्व स्पंदन को दे देता है—
और उसमें ही चला जैसे सहज सविलास
मंदिर माधव घामिनी का घोर पद-विन्यास ।
कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक,
इसी निमृत अनन्त में बसने लगा अब लोक;
४८ / मेरे प्रिय निबंध

राशि राशि नखत-कुसुम की अर्चना अथात,
बिखरती है, तामरस-सुंदर चरण के प्रात
मनु निरखते लगे ज्यो-ज्यो यामिनी का रूप,
वह अनंत प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप ?—प्रसाद

तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं वही आभास

मधुर मधुर है उसके दोनों अघर

किंतु जरा गंभीर—नहीं है उसमें हास-विलास ?

हँसना है तो केवल तारा एक

गुंथा हुआ उन घुंघराले बाले बाले बालों से ।—निराला

प्रसाद जी अपनी सुनहली तूलिका से इटा का चित्र खींचते हैं—

बिखरी अलकों ज्यो तर्क-जाल ?

या एक हाथ में कर्मकलश घसुघा का जीवन-सार लिये,

दूसरा बिचारों के नभ को या मधुर अभय अवलंब दिये,

त्रिवली की त्रिगुण तरंगमयी आलोक-वमन लिपटा अराल,

यह रूप-दर्शन हमें ऋग्वेद की उपा के सामने खड़ा कर देता है—

एषा दिवदुहिता प्रत्यर्द्धि व्युच्छन्ती मुक्रवासा ।

विश्वस्येशाना ॥

(वह आकाश की पुत्री अपने उज्ज्वल आनीक-परिधान में वैष्टिन किरणों
में उद्भाषित नवीन और विश्व की गमम्न नियियों की यामिनी है ।)

अरण मित्र के भ्रम पर गवित्याग

सुनहली तट घुंघराली बान ।

×

×

×

आलोक-रश्मि से घुने उपा-अञ्चल में आदोलन अमर—प्रसाद
आदि पवित्रों में जो कल्पना मिलती है, वह कुछ परिधित रूप में ऋग्वेद के
निम्न गीतों में भी स्थिति रखती है—

हिरण्यकेशा रजसो विमारेर्द्धि धुनिवातर ध्रुजीमान ।

सुचिभाजा उपमो नवेदा .. ॥

(सुनहली अलकों वाला वह अघकार दूर कर दिशाओं में फैल जाता है,
अहि के समान (लहरोवाला), बात-सा गतिशील और उमरे कान का काष्ण
यह आलोकशोभी उपा का जाता है ।)

आ यो तनोपि रश्मिभिरान्तरिक्षमुदप्रियम् ।

उप ध्रुवेण सोचिपा ॥

(हे दीप्तिमति ! तूने हम विस्तृत और प्रिय अन्तरिक्ष को आलोक और
किरणों से बुन दिया है ।)

‘कामायनी’ में अन्धा के मुख के लिए कवि ने लिखा है—
 खिलता हो ज्यों बिजली का फूल
 मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।

इससे हजारों वर्ष पहले अथर्व का कवि लिख चुका है—
 सिन्धोर्गर्भोसि विद्युता पुष्पम् ।
 (तू समुद्रो का सार है, तू बिजलियों का फूल है) !
 उदयाचल से बाल हस फिर,

उठता अवर में अवदात ।—पत
 आदि पक्षियों में हंस के रूपक से सूर्य का जो चित्र अंकित किया गया है, वह भी
 अथर्व के निम्न चित्र से विशेष साम्य रखता है ।

सहस्रहृष्य वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
 (आकाश में उड़ता हुआ उज्ज्वल हंस (सूर्य) अपनी सहस्रों वर्ष दीर्घ यात्रा
 तक पंख फँलाए रहता है ।)

तस्या रूपेणैमे वृषा हरितस्रजः ।—अथर्व
 (उसके रूप से ही ये वृक्ष हरी पत्र-मालाएँ पहने खड़े हैं) का भाव ही इन
 पंक्तियों में पुनर्जन्म पा गया है—

वृण बीरुष सहलहे हो रहे

आधुनिक कवियों के लिए आज की परिस्थितियों में प्राचीन मनीषियों का
 अनुकरण करना संभव नहीं था, पर उसकी दृष्टि की भारतीयता से ही
 उनकी रचनाओं में वे रग आ गये, जो इस देश के काव्य-तट पर विशेष खिल
 सकते थे ।

विश्व के रहस्य से संबंध रखने वाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे
 गतिशील होती है, तब वह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब
 हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है, तब प्रकृति और जीवन की एकता
 विविध प्रश्नों में व्यक्त होती है ।
 अथर्व का कवि प्रकृति और जीवन की गतिशीलता को विविध प्रश्नों का
 रूप देता है—

कथं वात नेलयदि कथं न रमते मनः ।
 किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीनेलयन्ति कदाचन ॥

(यह समीर क्यों नहीं चैन पाता ? मन भी क्यों नहीं एक ही वस्तु में
 रमता ? (दोनों क्यों चंचल हैं ?) कौन से सत्य तक पहुँचने के लिए (जीवन
 के समान) जल भी निरंतर प्रवाहित है ?)
 ऐसी जिज्ञासा ने हमारे काव्य को भी रहस्यमय सौंदर्य दिया है—

किसके अतकरण-अजिर मे
 अखिल ध्योम का लेकर मोती,
 ओसू का बादल बन जाता
 फिर तुषार की वर्षा होनी ?—प्रसाद
 अलि ! किस स्वप्नो की भाषा मे
 इगित करते तरु के पात ?
 वहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
 वह तारक-स्वप्नो की रात ?—पत

सस्कृत काव्यो मे प्रकृति दिव्यता के सिंहासन से उतरकर मनुष्य के पग से
 पग मिलाकर चलने लगती है, अत हम मानव-आकार के समान ही उसकी
 यथार्थ रूपरेखा देखते हैं और हृदय के साथ गूढ़ स्पन्दन सुनते हैं ।

वाल्मीकि के बनवासी राम कहते हैं—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्या न राजते ।

सीतेव आतपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥

(तुषार से मलिन उजियाली रात पूर्णिमा होने पर भी शोभन नहीं लगती ।
 आतप से कातिहीन अगो वाली सीता के समान प्रत्यक्ष तो है, पर शोभित नहीं
 होती ।)

पाले से धुधली हेमतिनी राका को, धूप से कुम्हलाई हुई सीता के पार्श्व में
 खड़ा करके, वे दोनों का एक ही परिचय दे डालते हैं ।

करुणा और प्रकृति के मर्मज्ञ भवभूति और प्रेम तथा प्रकृति के विशेषज्ञ
 कालिदास ने प्रकृति को उसकी यथार्थ रेखाओं में भी अंकित किया है और जीवन
 के हर स्वर से स्वर मिलाने वाली रागिनी के रूप में भी । सस्कृत काव्यो मे चेतन
 ही नहीं, जड़ भी मानव सुख दुःख से प्रभावित होते हैं ।

दुःखिनी सीता के साथ—

एते रुदन्ति हरिणा हरित विमुच्य

हसाच्च शोकविधुरा करुण रुदन्ति

हरित वृण छोड़कर भृग रोंते हैं, शोक विधुर हस करुण रुदन करते हैं ।
 इतना ही नहीं, मनुष्य के दुःख से 'अपि भ्रात्रा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'
 पापाण भी आसुओं में पिघल उठते हैं, वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है ।

इसी प्रकार विधुर अज के विलाप से

'अकरोत् पृथ्वीरुहानपि स्मृत-शास्त्रा-रस वाप्यदूषितान्'—वृक्ष अपनी
 शाखाओं के रस रूपी अश्रु-बिंदुओं से गीले हो जाते हैं ।

हिंदी काव्य में भी इस प्रवृत्ति ने विभिन्न रूप पाये हैं । निर्गुण के उपामवों
 ने प्रकृति में रहस्यमय अव्यक्त के मौदर्य और शक्ति को प्रत्यक्ष पाया, सगुण

भक्तों ने, उसे अपने व्यक्त इष्ट की 'रहस्यमयी महिमा और सुषमा की सजीव सगिनी बनाया और रीति के अनुयायियों ने, उसे प्रसाधन भाव बनाने के प्रयास में भी ऐसा रूप दे डाला, जिसके बिना उनके नायक-नायिकाओं के शरीर-सौंदर्य और भावों का कोई नाय-रूप ही असंभव हो गया ।

सही बोली के कवियों ने अपने काव्य में जीवन और प्रकृति को, वैसे ही सजीव, स्वतंत्र, पर जीवन की सनातन सहभागिनी के रूप में अंकित किया है, जैसा संस्कृत काव्य के पूर्वार्द्ध में मिलता है । 'प्रियप्रवास' की तपस्विनी राधा का पवन-दूत, साकेत की वसवासिनी सीता को घेरने वाले मृग-विहंग-नता-वृक्ष, सबके चित्रण में स्पष्ट सरल रेखाएँ और सूक्ष्म स्पर्शन मिलेगा । प्रकृति की सगिनी के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति इतनी भारतीय है कि यह उत्कृष्ट काव्यों से लेकर लोकगीतों तक व्याप्त हो चुकी है । ऐसा कोई लोकगीत नहीं, जिसमें मनुष्य अपने सुख-दुःख की कथा कोपल-वपीड़ा, सूर्य-चंद्र, गवा-यमुना, आम-नीम आदि को न सुनता हो और अपने जीवन के प्रश्न सुलझाने के लिए प्रकृति से सहायता न चाहता हो ।

छायावाद में यह सर्ववाद अधिक सूक्ष्म रूप पा गया है, जिसमें जड़ तत्त्व से चेतन की अभिन्नता, सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति को जन्म देती है और व्यष्टिगत चेतना में व्यापक चेतना की एकता, भावार्थमय दर्शन सहज कर देती है । इसी से कवि रूप-दर्शन की एक बिराट पीठिका पर प्रतिष्ठित कर उसे महत्ता देता है और व्यष्टिगत सुख-दुखों को जीवन के अनंत क्रम के साथ रखकर उन्हें विस्तार देता है । प्रकृति के रूप-दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए, उसने वही प्राचीनतम पद्धति स्वीकार की है, जो एक रूप-शब्द को दिव्य, अखंड और स्पर्शित मूर्तिमत्ता दे सकी और स्वानुभूत सुख-दुःखों को सामान्य बनाने के लिए उसने प्रकृति से ऐसा तादात्म्य किया, जिससे ठमका एक-एक स्पर्शन प्रकृति में अनेक प्रतिध्वनियाँ जमाने लगा । कही प्रकृति उसके अरूप भावों की परिभाषा ही नहीं, चित्र भी बन जाती है—

इदु-विचुवित बाल-जलद-भा

मेरी आशा का अभिनय ।—वंत

और कही वह अपनी तन्मयता में यह भूल जाता है कि प्रकृति के रूपों से मिलते-जुलते भावों के दूसरे नाम हैं, अतः एक की सज्ञा दूसरे के रूप को सहज ही मिल जाती है—

झझा झझोर गर्जन है विजली है नीरद-माला;

पाकर इस क्षुब्ध हृदय को सबने आ डेरा डाला !—प्रसाद

सर्ववाद के निकट कोई वस्तु अपने आप में न बड़ी है न छोटी, न लघु है न गुरु । जैसे अंगों की अनुभूति के साथ शरीर की अखंडता का बोध रहता है और

शरीर की अनुभूति के साथ अगो की विभिन्नता का ज्ञान, वैसे ही सर्ववाद में विविधता स्वतः पूर्ण रूप और सापेक्ष स्थिति रखती है। अतः छायावाद का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लघु या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही एक विराट् रूप-समष्टि में स्थिति रखते हैं, और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप-दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौंदर्य-कोप खोल देती है और प्रकृति के प्राण परिचय के लिए जीवन अपना रगमय भावाकाश दे डालता है।

एक था आकाश चर्पा का सजल उद्दाम
दूसरा रजित किरण से श्री-कलित घनश्याम,
घल रहा था विजय पथ पर मधुर जीवन-खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल ! — प्रसाद
ढुलकते हिम जल से लोचन

अधखिला तन अधखिला-मन

धूलि से भरा स्वभाव-पुकूल

मृदुल-छवि पृथुल सरलपन,

स्वविस्मित से गुलाब के फूल

तुम्ही सा था मेरा बचपन ! — पत

आदि में सजल आकाश और किरण-रजित मेघ से मनु और श्रद्धा के जीवन का जो परिचय प्राप्त होता है, गुलाब के विस्मित जैसे अधखिले फूल और मनुष्य के शौर्य का जो एक चित्र मिलता है, वह अपनी परिधि में प्रकृति और जीवन का रूप-दर्शन ही नहीं स्पन्दन भी घेरना चाहता है, अतः भाव-चित्र ही रूप-नीत हो जाता है।

छायामय के यथार्थ चित्र भी इसी तूलिका से अंकित हुए हैं, इसी से उनमें एक प्रकार की सूक्ष्मता आ जाना स्वाभाविक है।

“वह कुर काल-ताड़व की स्मृति रेखा सी” में विधवा की दीप्त कक्षा, “वहाँ आ रहा मौन धैर्य सा” में मनु के पुत्र का सशक्त व्यक्तित्व, “वह जलधर जिसमें चपला या श्यामला का नाम नहीं” में श्रम की श्रया जनित जड़ता आदि, इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।

प्रकृति और जीवन के तादात्म्य के कारण छायावाद के प्रेम-गीतों के भाव में ‘सग में पावन गंगा-स्नान’ की पवित्रता और रूप में ‘गूँड रहस्य बना साकार’ की व्यापकता आ गई।

नारी का चित्र मानो स्वयं प्रकृति का चित्र है—

वह विरह-मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखर सदृश सा स्पष्ट भाल,
दो पल-पल्लाश-चपक से हग देते अनुराग विराम डाल,

चरणों में थी गतिभरी ताल ! — प्रसाद

तुम्हीं हो स्पृहा अथु औ, हास

सृष्टि के उर की साँस; — पंत

वह कामायनी जगत की

मंगलकामना अकेली ! — प्रसाद

मे जो मंगलमयी शक्ति है, उसके सौंदर्य के प्रति भी कवि सजग है—

स्मित मधुराका थी, श्वासो मे

पारिजात-कानन खिलता;

और इन सौंदर्य को सकीर्ण बना लेने की प्रवृत्ति का भी उसे ज्ञान है—

पर तुमने तो पाया सदैव उसको सुंदर जड़ देह मात्र,

सौंदर्य-जलधि से भर भाए केवल तुम अपना गरल-मात्र !

इस विवृति के कारण की ओर संकेत भी स्वाभाविक है—

तुम भूल गए पुरुषस्वमोह में कुछ सत्ता है नारी की ! — प्रसाद

छाया-युग के भागवत सर्ववाद ने नारी-सौंदर्य के प्रति कवि की दृष्टि में वही पवित्र विस्मय और उल्लास भर दिया था जिससे

सजल सिंधिर-घात पुष्प

देखता है एकटक किरण कुमारी को ! — निराला

तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण भी इस प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हुआ; क्योंकि उस जागृति के सूत्राधार व्यावहारिक घरातल पर ही नहीं जीवन की सूक्ष्म व्यापकता में भी नारी के महत्त्व का पता पा चुके थे। दीर्घकालीन जड़ता के उपरांत भी जब वह मुक्ति के आह्वान मात्र पर अशेष रक्त तोल देने के लिए आ खड़ी हुई, तब राजनीति, समाज, काव्य सभी ने उसे विस्मय से देखा।

काव्य में उसका ऐसा भागवत चित्रण कहाँ तक उपयुक्त था, यह प्रश्न भी संभव है।

नारी की सामाजिक स्थिति के संवर्धन में, उस समय तक बहुत से आंदोलन चल चुके थे, उसके जीवन की कठोर सीमा-रेखाओं को कोमल करने के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। अपने विविध दृष्टिकोण और समय से प्रभावित कवियों ने उसे अपने भावजगत् में जैसी मुक्ति दी, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी विदोष ध्यान देने योग्य है। किसी को बहुत संकीर्ण बनाकर देखते-देखते वह संकीर्ण हो जाता है तथा किसी को एक विशाल पृष्ठभूमि पर रखकर देखना, उसे कुछ विशाल बनने की प्रेरणा देता है। सौंदर्य की स्थूल जड़ता से मुक्ति मिलते ही नारी को प्रकृति के समान ही रहस्यमय शक्ति और सौंदर्य प्राप्त हो गया, जिसने उसके मानसिक जगत् से पिछली संकीर्णता धो डाली।

कवि के लिए यह प्रवृत्ति कहा तक स्वाभाविक थी, इसे प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कला और सस्कृति का बहुत विकसित और अटूट क्रम है। यदि आदिम सघर्ष काल में भी पुरुष अपने पार्श्व में खड़ी नारी की रूपरेखा प्रकृति में देख सका और तब भी जीवन के व्यावहारिक घरातल पर ठहरने में समर्थ हो सका, तो निश्चय ही यह प्रवृत्ति आज कोई ऐसा अपकार न करेगी। सारत यह दृष्टि इतनी भारतीय रही कि जीवन में अनेक बार परीक्षित हो चुकी है। इसके अभाव में नारी को केवल विलास का साधन बनकर जीना पड़ा, पर इस प्रवृत्ति के साथ उसके जीवन को विशेष शक्ति और व्यापकता मिल सकी। छाया-युग की नारी चाहे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए विशेष सुविधाएँ न प्राप्त कर सकी हो, पर उसकी शक्ति ने पुरुष की आसना-व्यवसायी दृष्टि को एक दीर्घ-काल तक जहाँ का तहाँ ठहरा दिया—इसी से आज का क्षुल्लभमयधार्मवादी पुरुष उस पर आघात किये बिना एक पग बढ़ने का भी अवकाश नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए सौंदर्य में ही रहस्य की अनुभूति सहज है, अतः वह सौंदर्य को इतिवृत्त बनाकर कहने का प्रयास नहीं करता। विशेषतः उस युग के कलाकार के लिए यह और भी कठिन है, जब बाह्य विषमताएँ पार कर आंतरिक एकता स्पष्ट करना ही मध्य रहे। जिन कारणों से कवि ने प्रकृति और जीवन के यथार्थ को कठिन रेखाओं से मुक्त करके, उसमें सामंजस्य की खोज की, उसी कारण से वह नारी को भी कठोर यथार्थ में बाधकर काव्य में स्थापित न कर सका।

स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति हमारे लिए नवीन नहीं, क्योंकि हमारे वाक्य का एक बहुत्वपूर्ण अंग ऐसी अभिव्यक्तियों पर आश्रित है। वेदगीता की एक बहुत बड़ी सखा आत्मबोध और स्वानुभूति उत्लास-विपाद को स्वीकृति देती है। संस्कृत और प्राकृत काव्यों में वे रचनाएँ अक्षेप माधुर्यमयी हैं, जिनमें दुष्प चित्रों के सहारे मनोभाव ही व्यक्त किये गये हैं। निर्गुण काव्य में आदि से अतः तक, स्वानुभूति मिलन-विरह ही प्रेरक शक्ति है। सगुण-भक्तों के गीति-काव्य में मुस-दुस, सयोग-वियोग, आशा-निराशा आदि ने जो मर्मस्पर्शिता पाई है, उसका श्रेय स्वानुभूति को ही दिया जाएगा। सब प्रकार की अलंकारिता से शून्य सरल लोकगीतों में जो अतर्लतम तक प्रवेश कर जाने वाली भाव-सौन्दर्यता है, वह भी स्वानुभूतिमयी ही मिलेगी।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में भाव रूप चाहना है, अतः सौंदर्य का कुछ सकेतमयी हो जाना सहज संभव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ तत्त्वचिंतन का बहुत विकास हो जाने के कारण जीवन-रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए एक सवेतात्मक सौंदर्य बहुत पहले बन चुकी थी। अरुण दर्शन से लेकर रूपारमक वाक्यमयता तक सबने ऐसी सौंदर्य का प्रयोग किया है, जो परिचित के माध्यम से

अपरिचित और स्पूल के माध्यम में सूर्य तक पहुँच सके।

अवश्य ही दर्शन और काव्य की दंतियों में अंतर है, परंतु यह अंतर रूप-गत है तत्त्वगत नहीं; इसी से एक जीवन के रहस्य का मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।

कल्पना के संबंध में यह स्मरण रखना उचित है कि वह स्वप्न से अधिक ठोस धरती चाहती है। प्रायः परिचित और प्रिय वस्तुओं से संबंध रखने के कारण उसका विदेशीय होना सहज नहीं। विशेषतः प्रत्येक कवि और कलाकार अपने संस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग संवेदनशील होता है कि उसकी कल्पना, उसके ज्ञान और अनुभूतियों की चित्रमय व्याख्या बन जाती है।

प्रकृति के मौंदर्य और पृथ्वी के ऐश्वर्य ने भारतीय कल्पना को जिन मुनहले-रूपहले रंगों से रंग दिया था, वे तब से आज तक धुल नहीं सके। सम्प्रति के आदिकाल में ही यहां के तत्त्वदर्शक के विचार और अनुभूतियों में कितने चटकीले रंग उतर आये थे, इसका प्रमाण तत्कालीन काव्यगत कल्पनाएं देती हैं।

परमतत्त्व हरण्यगर्भ है, समुद्र रत्नाकर है, सूर्य दिन का मणि है, अग्नि हरण्यकेश है, पृथ्वी रत्नप्रसू, हिरण्यगर्भा, वसुंधरा आदि सत्ताओं में जगमगाती है। भाषा का संपूर्ण कोष स्वर्ण रजत के रंगों से उद्भासित और असंख्य रूपों से समृद्ध है।

इस समृद्धि का श्रेय यही की धरती को दिया जा सकता है। उत्तरी ध्रुव के जन्मे हुए समुद्र को कोई रत्नाकर की सत्ता देने की भूल नहीं करेगा, बर्फीली ठंडी धरती को कोई वसुंधरा कहकर पुसकिन न होगा।

इन समृद्ध और विविध कल्पनाओं का क्रम अटूट रहा है। जब तपोवन-वासी आदि कवि 'शाला' कनकप्रभा' कहकर धान की बाली का परिचय देता है, तब कालिदास जैसे कवियों की समृद्ध कल्पना के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ है। जब निर्गुण का उपासक फकीर 'रवि सति नखत दिपे ओहि जोती, रत्न पदारथ मानिक मोती।' कहकर अपने अरूप का ऐश्वर्य प्रकट करता है, तब सगुण-भक्तों की कल्पना के वैभव का अनुमान सहज है।

कल्पना का ऐश्वर्य लोकगीतों में भी ऐसा ही निरंतर क्रम रखता है। सुदूर अतीत के कवि ने आंसू को मोती के समान माना है, पर आज की ग्रामीण माता भी गाती है, 'मोती डरकें जब लालन रोवें फुलभरियन जैसी किल-कनियां।' मोती डलकते हैं जब उसका शिशु रोता है और फुलभरियो जैसी उसकी किलकारियां हैं। कोई ऐसा जीवन-गीत नहीं जिसमें ग्रामवधू सोने के थाल में भोजन परोसकर और सोने की झारो में गमाजल भरकर अपने पति का

संस्कार नहीं करती। इन कल्पनाओं के पीछे जो संस्कार हैं, वे किसी प्रकार भी विदेशीय नहीं।

आज दरिद्रता हमें अपनी घरती या प्रकृति से नहीं मिली, हमारी दुर्बलता का अभिशाप है, अतः काव्य जब प्रकृति का आधार लेकर चलता है, तब कल्पना में सूक्ष्म रेखाओं का बाहुल्य और दीप्त रंगों का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा।

छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच में जीवन का उद्गीर्ण है, अतः कल्पनाएँ बहुरंगी और विविधरूपी हैं। पर वैभव की दृष्टि से यह आज के यथार्थ के कितने निकट है, यह तब प्रबल होता है जब छायायुग का स्वप्नद्रष्टा गाता है—

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके महल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग।

—वामनायनी

और यथार्थ का नया उपासक कहता है—

मरकत-डिब्बे में खला ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन।

—ग्राम्या

छायावाद की दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दुःख का संबंध है, उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति में उत्पन्न करुणभाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।

करुणा हमारे जीवन और काव्य से बहुत गहरा संबंध रखती है। वैदिक काल ही में एक ओर आनंद-उत्साह की उपासना होनी थी और दूसरी ओर इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक करुण-भाव भी विकास पा रहा था। एक ओर यज्ञ संबंधी पशुबलि प्रचलित थी और दूसरी ओर 'मा हिंसात् सर्वभूतानि' का प्रचार हो रहा था। इस प्रवृत्ति ने आगे विकास पाकर जैन धर्म के मूल सिद्धांतों को रूप-रेखा दी। बुद्ध द्वारा स्थापित संसार का सबसे बड़ा करुणा का धर्म भी इसी प्रवृत्ति का परिष्कृत फल कहा जाएगा।

काव्य ने भी करुणा को विशेष महत्त्व दिया। हमारे दो महान् काव्यों में से एक को करुण-भाव में ही प्रेरणा मिली है और दूसरा अपने सपनों के अंत में करुण-भाव ही में चरम परिणति पा लेता है। संस्कृत के उत्कृष्ट काव्यों में भी कवि अपने इस संसार को नहीं छोड़ता। अनुभूति तो करुणा के अतिरक्ति कोई रस ही नहीं मानता और बालिदाम के काव्यों में करुणा स्वासोच्छ्वास के समान मिली हुई है। अग्निवर्ण के दुःखद अंत में समाप्त होने वाला रघुवश, जीवन के सब उत्साह-उमंगों की राख पर दुष्यंत से साक्षात् करने वाली

शकुंतला, यदि करुण-भाव न जगा सके तो आश्चर्य है।

हमारे इस करुण-भाव के भी कारण हैं। जहाँ भी चित्त-प्रणासी इतनी विकसित और जीवन की एकता का भाव इतना सामान्य होगा, वहाँ इस प्रकार का करुण-भाव अनायास और स्वाभाविक स्थिति पा लेता है। आत्म-वत्सर्वभूतेषु की धारणा जब जीवन पर व्यापक प्रभाव डाल चुकी, तब उसका बाह्य अंतर, पग-पग पर असंतोष को जन्म देता रहेगा।

परमतत्त्व की व्यापकता और इष्ट की पूर्णता के साथ अपनी सीमा और अपूर्णता की अनुभूति ही, निर्गुण-सगुणवादियों के विरह की तीव्रता का कारण है। यह प्रवृत्ति भी मूलतः करुणा से सबद्ध होगी।

करुणा का रंग ऐसा है, जो जीवन की बाह्य रेखाओं को एक कोमल दीप्ति दे देता है; संभवतः इसी कारण सौकिक काव्य भी विप्रसन्न शृंगार को बहुत महत्त्व और विस्तार देते रहे हैं। जब यह करुण भावना व्यक्तिगत सुख-दुःख के साथ मिल जाती है, तब उन दोनों के बीच में विभाजन के लिए बहुत सूक्ष्म रेखा रहती है।

भारतेंदु युग में हम एक व्यापक करुणा की छाया के नीचे देश की दुर्दशा के चित्र बनते-बिगड़ते देखते हैं। पौराणिक चरित्रों की खोज करुण-भावना की सामान्यता के लिए होती है और देश, समाज आदि का मध्याह्न चित्रण व्यक्तिगत विपाद को विस्तार देता है। खड़ी बोली के कवि संस्कृत काव्य-साहित्य के ओर अधिक निकट पहुँच जाते हैं। 'प्रिय-प्रवास' की राधा और 'साकेत' की उमिला का, नये वातावरण में पुनर्जन्म उसी सनातन करुणा की प्रेरणा है और राष्ट्र-गीतों और सामाजिक चित्रण में व्यक्तिगत विपाद को समष्टिगत अभिव्यक्ति मिली है।

छायायुग का काव्य स्वानुभूतिमयी रचनाओं पर आश्रित है, अतः व्यापक करुण-भाव और व्यक्तिगत विपाद के बीच की रेखा और भी अस्पष्ट हो जाती है। गीत में गाया हुआ पराया दुःख भी अपना हो जाता है और अपना भी सबका, इसी से व्यक्तिगत हार से उत्पन्न व्यथा एक समष्टिगत करुण-भाव में एकरस जान पड़ती है।

इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छायायुग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विपाद की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम न बन सका।

समष्टिगत जीवन की बाह्य विकृति और आंतरिक विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण-भाव जो रूप पा सकता था, वह भी गायक से भिन्न कोई स्थिति नहीं रखता था। वर्णनात्मक काव्यों में जो प्रवृत्ति कवि की सूक्ष्म दृष्टि और उसके हृदय की संवेदनशीलता को व्यक्त करती, वह स्वानुभूतिमयी रचनाओं में,

उसका वैयक्तिक विषाद बनकर उपस्थित हो सकी। अतः इस विषाद के विस्तार में दूसरे केवल उसी का हाहाकार और उसे प्रेरणा देने वाली मानसिक स्थिति खोज-खोजकर खनने लगे।

'कामायनी' में बुद्धि और हृदय के समन्वय के द्वारा जीवन में सामाज्यमाने का जो चित्र है, वह कवि का स्वभावगत संस्कार है, क्षणिक उत्तेजना नहीं। इस सामाज्य का संकेत सब प्रतिनिधि रचनाओं में मिलेगा।

कृष्ण-भाव के प्रति कवियों का झुकाव भारतीय संस्कार के कारण है, पर उसे और अधिक बल सामयिक परिस्थितियों से मिल सका।

कौन प्रकृति के वरुण काव्य सा
 धृष पत्र की मधुछाया में,
 लिखा हुआ सा अचल पड़ा है
 अमृत सदृश नग्नवर काया में ?
 जिससे कन-कन में स्पंदन हो,
 मन में मलयानिल चदन हो,
 कहना का नव अभिनदन हो,
 वह जीवन-भीत सुना जा रे।

—प्रभाव

विश्व-वाणी ही है कदन
 विश्व का काव्य अधु-कन।
 वेदना ही के सुरीले हाथ से
 है बना यह विश्व इसका परमपद
 वेदना ही का मनोहर रूप है।

—पत

मेरा आकुल कदन
 व्याकुल वह स्वर-सरित-हिलोर,
 वायु में घरती वरुण मरोर
 बढ़ती है तेरी ओर;
 मेरे ही कदन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर !

—निराला

इस विषाद में व्यक्तिगत दुखों का प्रकटीकरण न होकर उम सादर्यवर्णा की ओर संकेत है; जो जीवन को सब ओर से स्पर्श कर एक स्निग्ध उज्ज्वलता देनी है।

भारतीय दर्शन, काव्य आदि में इन तरल सामाज्य-भाव को भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया है, पर ये इमे पूर्णतः मूल नहीं गये।

व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकी, पर वे छाया-युग के सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित हैं कि उन्हें स्वतंत्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।

व्यापक चेतना से व्यष्टिगत चेतना की एकता के भावन ने पुरानी रहस्य-प्रवृत्ति को नया रूप दिया। धर्म और समाज के क्षेत्र में विधि-विधान इतने कृत्रिम हो चुके थे कि जीवन उनसे विरक्त होने लगा। अपने व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक प्रभाव के कारण कवि के लिए, रहस्य संबंधी साधना-पद्धति को अपनाना सहज नहीं था; पर सामंजस्य की भावना और जीवनगत अपूर्णता की अनुभूति ने उसके काव्य पर कल्याण का ऐसा अंतरिदा वुन दिया, जिसकी छाया में दुःख ही नहीं सुख के भी सय रंग बनते-मिटते रहे।

राष्ट्र की विषम परिस्थितियों ने भी छायायुग की कल्याण में एक रहस्य-मयी स्थिति पाई। जैसे परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए विकल आत्मा का क्रंदन व्यापक है, वैसे ही राष्ट्र-तत्त्व की भुक्ति में अपनी भुक्ति चाहने वाली राष्ट्रात्मा का विपाद भी विस्तृत है।

किसी भी युग में एक प्रवृत्ति के प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं हो जाती, गौण रूप से बिकास पाती रहती हैं। छायायुग में भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवाद की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ अप्रधान रूप से अपना अस्तित्व बनाये रह सकी, जिनमें से अनेक अब अधिक स्पष्ट रूप में अपना परिचय दे रही हैं। स्वयं छायावाद तो कल्याण की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूप में उसकी उपयोगिता है। इस रूप में उसका किसी विचारधारा या भावधारा से विरोध नहीं, वरन् आभास ही अधिक है, क्योंकि भाषा, छंद, कथन की विशेष शैली आदि की दृष्टि से उसने अपने प्रयोगों का फल ही आज के यथार्थवाद को सौंपा है।

इस आदान से तो यथार्थ-मुखी विचारधारा का असहयोग नहीं, वह केवल उसकी आत्मा के उस अक्षय सौंदर्य पर आघात करना चाहती है, जो इस देश की सांस्कृतिक परंपरा की धरोहर है। जब तक इस आकाश में अनंत रंग हैं, इस पृथ्वी पर अनंत सौंदर्य है, जब तक यहाँ की ग्रामीणा कोकिला-काग से सदेश भेजना नहीं भूलती, किसान चँती चादनी और आकाश की घटाओं को मूर्तिमत्ता देना नहीं छोड़ता, तब तक काव्य में भी यह प्रवृत्ति रहेगी। छायावाद का भविष्य केवल यथार्थ के हाथ में भी नहीं, क्योंकि वह इस धरती और आकाश से बंधा है।

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से हमारे यहाँ का घोर अशिक्षित भी विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि दर्शन जैसे गूढ़ विषय से लेकर थम, जैसे सरल विषय तक उसकी अच्छी पहुँच है। हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के पीछे कई हजार वर्ष

का इतिहास है, अतः इस मिट्टी के सब अणु उसका स्पर्श कर चुके हों तो आश्चर्य नहीं।

पुरातन सांस्कृतिक मूल्यों के संबंध में यदि आज का यथार्थवादी इस युग के सबसे पूर्ण और कर्मठ यथार्थदर्शी लेनिन के शब्दों को स्मरण रख मने, तो संभवतः वह यथार्थ का भी उपकार करेगा और अपना भी—

'We must retain the beautiful, take as it an example, hold on to it even though it is old. Why turn away from real beauty, and discard it for good and all as a starting point for further development just because it is old? Why worship the new as the god to be obeyed just because it is the new? That is nonsense, sheer nonsense. There is a great deal of conventional art hypocrisy in it too and respect for the art fashions of the west.'

(Lenin—the man)

(हमें, जो सुंदर है उस ग्रहण करना, आदर्श के रूप में स्वीकार करना और सुरक्षित रखना चाहिए, चाहे वह पुराना हो। केवल पुरातन होने के कारण वास्तविक सौंदर्य में विरक्ति क्यों और नवीन के विकास के लिए उस सदा को त्याग देना अनिवार्य क्यों? जिसका अनुसामन मानना ही होगा, ऐसे देवना के समान नवीनता की पूजा किसलिए? यह तो अर्थहीन है—नितांत अर्थहीन। इस प्रवृत्ति में कला की रुढ़िगत कृत्रिमता और पश्चिम की कला रुढ़ियों के प्रति सम्मान का भाव ही अधिक है।)

आधुनिक युग का सबसे समर्थ कर्मनिष्ठ अध्यात्मद्रष्टा भी अपनी गंभीरता को महत्त्व देकर उसी वास्तविक सौंदर्य की ओर संकेत करता है—

‘मेरा तो निश्चित मत है कि दुनिया में किसी सृष्टि का अस्तित्व इतना भरा-पूरा नहीं, जितना हमारी सृष्टि का। इस देश की सृष्टि-शक्ति में अनेक सस्कृति रूपी सहायक नदियाँ आकर मिली हैं। इन सृष्टि-शक्तियों में हमारे लिए हो सकता है तो यही कि हम सारी दुनिया को सृष्टि-शक्ति से जड़ दीवारी से विभक्त नहीं किया जा सकता। समस्या का अस्तित्व के विनाश का आविर्भाव है। हमारी अतः स्थिति सुप्त भावनाओं की सृष्टि-शक्ति का सामना जिसमें होता है वह कवि है। अपनी अपूर्णता महसूस करने, उसका कायम करना वह कवि है।’

—महात्मा गांधी

हम आधी-नूतन के ऐसे छविसमय युग के बीच हैं, जिस द्वार के द्वार पर जीवन के सर्वतोन्मुख निर्माण का कार्य स्वयंसेवा की भाँति चल रहा है।

उठेगा। निर्माण के संबंध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम जीवन की मूल प्रवृत्तियों के स्रष्टा नहीं बन सकते, केवल नवीन परिस्थितियों में उनका समुचित उपयोग ही हमारा सृजन कहा जाएगा। क्रूरता, प्रेम, द्वेष, क्रोध आदि मूल भावों पर सभी मनुष्यों का जन्माधिकार है, पर इन मूल भावों का विकास मानव ही नहीं, उसे घेरने वाले वातावरण पर भी निर्भर रहता है। इसी कारण किसी मनुष्य-समूह में चिंतनशीलता का आधिक्य मिलेगा, किसी में युद्ध-प्रेम ही प्रधान जान पड़ेगा, किसी में व्यवसाय-कौशल की ही विशेषता रहेगी और किसी में भावुक कलाकार ही सुलभ होंगे। बाह्य परिस्थितियों के कारण बहुत-सी स्वस्थ प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं, बहुत-सी अस्वस्थ, प्रधानता पाने लगती हैं। जीवनव्यापी निर्माण के लिए इन्हीं प्रवृत्तियों की निष्पक्ष परीक्षा और उनका स्वस्थ उपयोग अपेक्षित रहेगा और इस कार्य के लिए ऐसे व्यक्ति अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे, जो संपूर्ण अतीत को विक्षिप्त की क्रियाशीलता कहकर छुट्टी नहीं पा लेते।

साहित्य, काव्य, कला आदि केवल मूल प्रवृत्तियों के विविध परिष्कार-क्रम के इतिहास हैं, अतः कलाकार इन प्रवृत्तियों को अपने युगविशेष की संपत्ति समझकर और अतीत के मारे सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों को भूलकर लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता।

पिछले अनेक वर्षों की विपन्न परिस्थितियों ने हमारे जीवन को छिन्न-भिन्न कर डाला है। कलाकार यदि उस विभाजन को और छोटे-छोटे खंडों में विभाजित करता रहे, तो वह जीवन के लिए एक नया अभिशाप सिद्ध होगा। उसे सामंजस्य की ओर चलना है, अतः जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ, उनका सांस्कृतिक मूल्य, उन मूल्यों का, आज की परिस्थिति में उपयोग आदि का ज्ञान न रहने पर उसकी मात्रा भटकना मात्र भी हो सकती है।

केवल पुरातन या नवीन होने से कोई काव्य उत्कृष्ट या साधारण नहीं हो सकेगा, इसी से कवि-गुरु कालिदास को कहना पड़ा—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते

भूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।

अतीत और वर्तमान के आदान-प्रदान के संबंध में छायायुग के प्रतिनिधि कवि की इस उक्ति में सरल सौंदर्य ही नहीं मार्मिक सत्य भी है—

शिशु पाते हैं भाताओं के

वस स्थल पर भूला गान,

माताएँ भी पाती शिशु के

अघरो पर अपनी मुस्कान !

—निराला Δ

प्रेम-संबंध के कारण, वैष्णव युग के उच्चतम कोटि तक पहुंचे हुए प्रणय-निवेदन से भिन्न नहीं।

आज गीत में जिसे हम रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं, वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपाधिबता ली, वेदांत के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दापत्य-भाव-सूत्र में बांधकर एक निराले स्नेह-संबंध की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलंबन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। इसमें संदेह नहीं कि इस वाद ने रुढ़ि बनकर बहुतांश को भ्रम में भी डाल दिया है, परंतु जिन इने-गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा, उन्हें इस नौहार सोक में भी गतव्य मार्ग स्पष्ट दिखाई दे सका। इस काव्य-धारा की अपाधिब पार्थिवता और साधना-न्यूनता ने सहज ही सबको अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, अतः यदि इसका रूप कुछ विकृत होता जा रहा है तो आश्चर्य की बात नहीं। हम यह समझा नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य और बंगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परंपरा भी रही।

जो रहस्यानुभूति हमारे ज्ञान-क्षेत्र में एक सिद्धांतमात्र थी, वही हृदय की कोमलतम भावनाओं में प्राण-प्रतिष्ठा पाकर तथा प्रेममार्गी सूफी सतों के प्रेम में अतिरजित होकर, ऐसे कलात्मक रूप में अवतीर्ण हुई, जिसने मनुष्य के हृदय और बुद्धिपक्ष दोनों को सतुष्ट कर दिया। एक ओर कबीर के हठयोग की साधना-रूपी सम-विषम शिलाओं से बंधा हुआ और दूसरी ओर जायसी के विशद प्रेम-विरह की कोमलतम अनुभूतियों की बेला में उन्मुक्त, यह रहस्य का समुद्र आधुनिक युग को क्या दे सका है, यह अभी कहना कठिन होगा। इतना निश्चित है कि हम वस्तुवाद-प्रधान युग में भी वह अनादृत नहीं हुआ, चाहे इसका कारण मनुष्य की रहस्योन्मुख प्रवृत्ति हो और चाहे उसकी लौकिक रूपकी में सुंदरतम अभिव्यक्ति।

इस बुद्धिवाद के युग में मनुष्य, भावपक्ष की सहायता से अपने जीवन को कसने के लिए कोमल कसौटिया क्यों प्रस्तुत करे, भावना की साकारता के लिए अध्यात्म की पाठिका क्यों खोजता फिरे और परोक्ष अध्यात्म को प्रत्यक्ष जगत में क्यों प्रतिष्ठित करे, यह सभी प्रश्न सामयिक हैं, पर इनका उत्तर केवल बुद्धि से दिया जा सकेगा, ऐसा संभव नहीं जान पड़ता, क्योंकि बुद्धि का प्रत्येक समाधान अपने साथ प्रश्नों की बड़ी संख्या उत्पन्न कर लेता है।

साधारणतः अन्य व्यक्तियों के समान ही कवि की स्थिति भी प्रत्यक्ष जगत् की व्यष्टि और समष्टि दोनों ही में है। एक में वह अपनी इकाई में पूर्ण है और दूसरी में वह अपनी इकाई से बाह्य जगत् की इकाई को पूर्ण करता है। उसके अतर्जगत् का विकास ऐसा होना आवश्यक है, जो उसके व्यष्टिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ, समष्टिगत जीवन के साथ उसका सामंजस्य स्थापित कर दे। मनुष्य के पास इसके लिए केवल दो ही उपाय हैं, बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार। परन्तु केवल बौद्धिक निरूपण जीवन के मूल तत्वों की व्याख्या कर सकता है, उनका परिष्कार नहीं, जो जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए अपेक्षित है और केवल भावना जीवन को गति दे सकती है, दिशा नहीं।

भावतिरेक को हम अपनी क्रियाशीलता का एक विशिष्ट रूपांतर मान सकते हैं, जो एक ही क्षण में हमारे संपूर्ण अतर्जगत् को स्पर्श कर बाह्य जगत् में अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठती है, पर बुद्धि के दिशा-निर्देश के अभाव में, इस भावप्रवेग के लिए अपनी व्यापकता की सीमाएँ खोज लेना कठिन हो जाता है, अतः दोनों का उचित मात्रा में सन्तुलन ही अपेक्षित रहेगा।

कवि ही नहीं, प्रत्येक कलाकार को अपने व्यष्टिगत जीवन को गहराई और समष्टिगत चेतना को विस्तार देने वाली अनुभूतियों को, भावना के साथ में डालना पड़ा है। हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दहीन वस्तुवाद के लगे पथ को पार कर, कदाचित् फिर चिर सवेदन रूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजने होंगे, ऐसी मेरी व्यक्तिगत धारणा है।

कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं, इसका निर्णय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकेगी। जो कुछ स्थूल, व्यक्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है, यदि केवल वही अध्यात्म से अभिप्रेत है, तो हमें वह सौंदर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ, अनेक अव्यक्त सत्य सबंधी धारणाओं में अकुरित, इन्द्रियानुभूति प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न उसी की परोक्ष रूप-भावना में छिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी शक्तियों से निर्मित विश्वबधुता, मानवधर्म आदि के ऊँचे आदर्शों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परंपरागत धार्मिक रुढ़ियों को हम अध्यात्म की सज्ञा देते हैं, तो उस रूप में वाक्य में उसका महत्त्व नहीं रहता। इन गहन में अध्यात्म की यलात् लोक-समूही रूप देने का या अस्वीकार करने का कोई वाग्रह नहीं है। अवश्य ही वह अपने ऐकांतिक रूप में भी सफ़ल है, परन्तु इस अरूप रूप की अभिव्यक्ति मौखिक रूपों में ही तो संभव होगी।

जायसी की परोक्षानुभूति चाहे जितनी ऐकान्तिक रही हो, परन्तु उसकी मिसल धिरह की मधुर और मर्मस्पर्शिनी अभिव्यक्तता क्या किसी सोचोतर

लोक से रूपक लायी थी? हम चाहे आध्यात्मिक सकेतो से अपरिचित हों, परंतु उनकी लौकिक कला-रूप संप्राणता से हमारा पूर्ण परिचय है। कबीर की कांतिक रहस्यानुभूति के संबंध में भी यही सत्य है।

वास्तव में लोक के विविध रूपों की एकता पर स्थित अनुभूतियां लोक-विरोधिनी नहीं होती; परंतु ऐकांतिक रूप के कारण अपनी व्यापकता के लिए, वे व्यक्ति की कलात्मक सवेदनीयता पर अधिक आश्रित हैं। यदि ये अनुभूतियां हमारे ज्ञान-क्षेत्र में कुछ दार्शनिक सिद्धांतों के रूप में परिवर्तित न हो जावें, अध्यात्म की सूक्ष्म से स्थूल होती चलने वाली पृष्ठभूमि पर धारणाओं की रुढ़ि मात्र न बन जावें तो भावपक्ष में प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनों को एक परिष्कृत और अभिनव रूप देती हैं।

हमारी अंतःशक्ति भी एक रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत् का विकास-क्रम भी, अतः जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते रहते हैं, जिनमें हम इस रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। इस रहस्य का आभास या अनुभूति मनुष्य के लिए स्वाभाविक रही है, अव्यथा हम सभी देशों के समृद्ध काव्य-साहित्य में किसी न किसी रूप में इस रहस्यभावना का परिचय न पाते। न वही काव्य हेय है, जो अपनी साकारता के लिए केवल स्थल और व्यक्त जगत् पर आश्रित है और न वही, जो अपनी संप्राणता के लिए रहस्यानुभूति पर। वास्तव में दोनों ही मनुष्य के मानसिक जगत् की मूर्त और बाह्य जगत् की अमूर्त भावनाओं की कलात्मक समष्टि हैं। जब कोई कविता काव्यकला की सर्वमान्य कसौटी पर नहीं कसी जा सकती, तब उसका कारण विषय विशेष न होकर कवि और असमर्थता ही रहती है।

हमारे मूर्त और अमूर्त जगत् एक-दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा बनकर ही पूर्णता पाता है।

इस अलख और व्यापक चेतना के प्रति कवि का आत्मसमर्पण संभव है या नहीं, इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियां देती आ रही हैं, वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफत्तक पर सौंदर्य के रंग और रूपों के रेखाजाल से बना चित्र, यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त का दर्शन और अमूर्त की भावना सहज कर देता है, तो तर्क व्यर्थ होगा। यह तो ऐसा है जैसे किसी के अक्षयघट से प्यास बुझा-बुझाकर विवाद करना कि उसने कूप क्यों छोड़ा जब घरती के ऊपर भी पानी था; क्योंकि उसने घरती के ही अंतर की अविभक्त सजलता का पता दिया है। पर यह सत्य है कि इस घरातल पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संबंध बनाए रखने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता चाहिए।

✓ अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौंदर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्म-समर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्श-समर्पित व्यक्तियों में समार के असाधारण बर्मेनिष्ठ मिलेंगे, सौंदर्य से तादात्म्य के इच्छुको में श्रेष्ठ कलाकारों की स्थिति है और व्यक्तित्व-समर्पण ने हमें साधक और भक्त दिए हैं।

अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का श्रेय ही हृदय का प्रिय हो जाता है। इस प्रकार रहस्य-वादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौंदर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अतः उसमें सत् और चित् की एकता में आनन्द सहज संभव रहेगा।

रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है, जिसमें हृदय की सीमा, एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है। हृदय के अनेक रागात्मक तत्वों में माधुर्यभावमूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और आत्म-निवेदक को इष्ट के साथ समता के घरातल पर खड़ा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति संभव है, जो इष्ट नहीं, इष्ट का अनुग्रहदान कहा जा सकता है। माधुर्यभावमूलक प्रेम में आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नहीं। इसी में तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान संभव नहीं, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।

अनंत रूपों की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नहीं। अतः उससे निःकट ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है। यदि हम ध्यान से देखें तो स्थूल जगत् में भी ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य के अतर्जगत् पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिससे निःकट अपने आपकी पूर्ण रूप से निवेदित करके मतोष का अनुभव करता है, वह सौंदर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि में सबको विनिष्ट जान पड़े, ऐसा कोई नियम नहीं। प्रायः एक के अटूट स्नेह, भक्ति का आधार, दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और मापारण रूप में उपस्थित हो सकता है कि वह उसे किसी भाव का आलम्बन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अतर्जगत् में जो कुछ नब्ब छिपाए हुए है, वह जितना प्रतिबिम्बित जान पड़ता है, उससे निःकट आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परन्तु यह आत्मनिवेदन सामानाज्य आत्मसमर्पण से भिन्न है क्योंकि सामाना अतर्जगत् के सौंदर्य की साधारणता नहीं देखती, किसी स्थूल अभाव की

आया हूँ ।)

ऋग्वेद के इस रहस्यात्मक अंकुर ने दर्शन और काव्य में जैसी विविधता पाई है, वह प्रत्येक जिज्ञासु के लिए विशेष आकर्षण रखती है ।

जैसे-जैसे यह हृदयगत आकुलता मस्तिष्क की सीमा के भीतर प्रवेश पाती जाती है, वैसे-वैसे एक चिंतन-प्रधान जिज्ञासा अमरवेसि के समान फैलने लगती है, अतः कवि प्रकृति के विविध रूपों पर चेतना का आरोप करके ही संतुष्ट नहीं होता । वह इस सवध में क्या और क्यों भी जानना चाहता है ।

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमं स्वदेवः सः ॥

ऋ० १०-७-६

(विपरीत रूप वाले, गौर और श्याम दिन-रात कहा पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं ? वे सरिताएं जहां पहुँचने की अभिलाषा से बली जा रही हैं ? उम परम आश्रय को बताओ । वह कौन है ?)

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।

यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमं स्वदेवः सः ॥

अथर्व १०-७-४

(यह सूर्य किसकी अभिलाषा में दीप्तिमान् है ? यह पवन कहा पहुँचाने की इच्छा से निरंतर बहता है ? यह सब जहां पहुँचने के लिए चले जा रहे हैं, उस आश्रय को बताओ । वह कौन-सा पदार्थ है ?)

इस जिज्ञासा ने आगे चलकर व्यापक चेतन तत्त्व को, प्रकृति के माध्यम से भी व्यक्त किया है और उसके बिना भी, अतः उसकी सर्ववाद और आत्मवाद संबंधी दो शाखाएं हो गईं ।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।

अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व १०-७-३३

(सूर्य और पुनः-पुनः नवीन रूप में उदित होनेवाला चंद्रमा जिसकी दो आखों के समान हैं, जो अग्नि की अपने मुख के समान बनाए हुए है, उस परम तत्त्व को नमन है ।)

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।

दिवं यश्चक्रे मूर्धनि तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व १०-७-३२

(भूमि जिसके चरण हैं, अंतरिक्ष उदर है और आकाश जिसका मस्तक है, उस परम शक्ति को नमन है ।)

इसी की छाया हमें गीता के सर्ववाद में मिलती है ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम् ।

पश्यामि त्वा दीप्तहुताश्वक्त्र स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

(तुम्हारा आदि, मध्य और अवसान नहीं है, तुम अनन्त शक्तियुक्त और अनन्त मुजाबो वाले हो, सूर्य चद्र तुम्हारे नेत्र हैं, दीप्ति अग्नि मुख है । अपने तेज से विश्व को उद्भाषित करने वाले । मैं तुम्हें देख रहा हूँ ।)

यह सर्ववाद अधिक भागवत होकर भारतीय काव्य में प्रकृति और जीवन को विविधता में एकता देता रहा है ।

इस प्रवृत्ति ने प्रकृति में दिव्य दान्तियों का आरोप भी सहज कर दिया है और उसे मानव जीवन के पग से पग मिलाकर चलने का अधिकार भी दे डाला है । हम मानव की बाह्य रूपरेखा के समान उसके अतिनिहित सौंदर्य को भी प्रत्यक्ष देखते हैं और हृदय की धड़कन के समान उसके गूढ स्पन्दन का भी अनुभव करते हैं ।

संस्कृत काव्यों में प्रकृति की सजीव रूपरेखा, उसका मानव सुख-दुःखों के स्वर से स्वर मिलाना, जीवन का पग-पग पर उससे सहायता मागना, इसी प्रवृत्ति के भिन्न रूप हैं ।

सकुलला के साथ चलने वाले वृक्ष-लता क्यों इतने सजीव हैं कि वह उनसे बिदा मागे बिना पति के घर भी नहीं जा सकती, उत्तररामचरित की नदिया क्यों इतनी सहानुभूतिशील हैं कि एकाकिनी सीता के लिए सलिया बन जाती हैं, यक्ष के निकट भेष क्यों इतना अपना है कि वह उसे अपने विरही हृदय की गूढ़ व्यापा का बाहुक बना लेता है आदि प्रश्नों का उत्तर, उसी प्रवृत्ति में मिलेगा जो चेतनतत्त्व को विश्वरूप देखती है ।

चित्तन की ओर बढ़नेवाली जिज्ञासा ने भौतिक जगत् का बम से बम सहारा लेते हुए चेतना की एकता और व्यापकता स्थापित करने की चेष्टा की है—

एक पाद नोत्थिदति समिलादस उच्चरन् ।

यदगं स तनुत्तिदेन्मैवाद्य न द्वं स्यान्न रात्रि नाहं स्यान्न व्युच्छेद्बदाद्यन् ॥

अथर्व० ११-४-२१

[यह हंस (चेतन तत्त्व) एक पैर जल से (सत्तार से) ऊपर उठाकर भी दूसरा जल में स्थिर रहता है । यदि वह उस चरण को भी उठा ले (मोक्षरूप में पूर्णतः अलग हो जावे) तो न आज रहे न कल रहे, न रात्रि हो न दिन हो, न कभी उपावास हो सके ।]

वासादेवमणीयस्वमुत्तमं नैव दृश्यते ।

तम परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥

अथर्व० १०-८ २५

(एक वस्तु जो बाल से अत्यंत सूक्ष्म और वह भी एक हो तो वह नहीं के समान दिखाई देती है; तब जो उससे भी सूक्ष्म वस्तु के भीतर व्यापक और अति सूक्ष्मतम सत्ता है, वह मुझे प्रिय है।)

क्रमशः इस सूक्ष्म सत्ता पर बुद्धि का अत्यधिक अधिकार होने के कारण प्रेम भाव के लिए कही स्थान नहीं रहा—

वेदोहं सूत्रं वितत यस्मिन्नोता. प्रजा इमाः ।

सूत्रं सूत्रस्याहं वेदायो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

अथर्व० १०-८-३८

(मैं उस व्यापक सूत्र को जानता हूँ जिसमें यह प्रजा गूथी हुई है। मैं सूत्र के भी सूत्र को जानता हूँ जो सबसे महत् है।)

परंतु तत्त्वदर्शक इस परम महत् के सनातन रूप को भी अपनी विविधता में घिर नहीं देखता है।

सनातनमेनमानहस्ताद्य स्यात् पुनर्णवः ।

अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥

अथर्व० १८-८-२३

(वह परम तत्त्व सनातन कहा जाता है। पर वह तो आज भी नया है, जैसे दिन-रात बराबर नये-नये उत्पन्न होते हैं, पर रूपों में एक-दूसरे के समान होते हैं।)

यही भाव उपनिषदों में मिलता है—

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्यं स उ श्वः एतद्वैतत् ।

—का० उप०

जब चेतन की व्यापकता और जड़ की विविधता की अनुभूति, हमारा हृदय करता है, तब वह रूपों ही के माध्यम से अरूप का परिचय देता है। इस क्रम से काव्य और कलाओं की सृष्टि स्वाभाविक है; क्योंकि वे सत् या व्यापक सत्य को सौंदर्य की विभिन्नता में अनुवादित करने का लक्ष्य रखती हैं। परंतु जब इसी सत्य को मस्तिष्क अपनी सीमा में घेर लेता है, तब वह सूक्ष्म से सूक्ष्म सूत्र के महारे रूप-समष्टि की एकता प्रमाणित करना चाहता है। इस क्रम से हमारे दर्शन का विकास होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य रूपों की विविधता को परम तत्त्व में एकरस कर देना है।

इस प्रकार हमारी रहस्यभावना चित्त में सूक्ष्म अरूपता ग्रहण करने लगी। वह खो नहीं गई, क्योंकि उपनिषद् का अर्थ ही रहस्य है। ब्रह्म और जगत की सापेक्षता, आत्मा और परमात्मा की एकता आदि ने दर्शन की विविध शैलियों को जन्म दिया है।

कर्मकाण्ड के विस्तार से यके हुए कुछ मनीषियों ने चित्तन पद्धति के द्वारा ही आत्म का परम विकास संभव समझा। इनके साथ वह पक्ष भी रहा जो

कुछ योग क्रियाओं और अभ्यासों द्वारा आत्मा को दिव्य शक्ति-सपन्न बनाने में विश्वास रखता था—दूसरे अर्थ में वह कर्मकाण्ड के रूप में परिवर्तन चाहता था, उमका अभाव नहीं। एक कर्म-मदति भौतिक सिद्धियों के लिए थी, दूसरी आत्मिक ऋद्धियों के लिए। इसी में अत में साधनात्मक रहस्यवाद, वज्रयानी शैव, तान्त्रिक आदि संप्रदायों में, ऐसे भौतिक धरातल पर उतर आया कि वह स्थूल सुखवाद का साधन बनाया जाने लगा।

अष्टाचक्र नवद्वारा देवाना पूर्योद्धया।

(अष्ट चक्र नव द्वारों वाली यह इन्द्रिगणों की अजेय पुरी है।)

पुण्डरीक नवद्वार त्रिभिर्गुणैर्भिरावृतम्।

—अथर्व०

(नवद्वार वाला यह श्वेतकमल है जो सत्त्व, रज, तम तीन गुणों से ढका हुआ है।)

उपर्युक्त पक्षियों में शरीर-यन्त्र की ओर रहस्यात्मकता वर्णित है, उसने ऐसा विस्तार पाया, जो आत्मा को सबसे ऊपर परम व्योम तक पहुँचाने का साधन भी हुआ और नीचे पाताल से बाध रखने का कारण भी।

रहस्य के दर्शन के प्रहरी हमारे चित्तनशील मनीषी रहे। उपनिषदों और विशेषतः वेदाङ्ग दर्शन ने आत्मा और परम तत्त्व के संबंध को उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है। उपनिषद् हमारे पद्य और गद्य के बीच में स्थिति रखते हैं।

सूक्ष्म तत्त्व को प्रकट करने के लिए उनकी सकेतात्मक शैली, अतर्जगत में चद्मासित सत्य को स्पष्ट करने वाली रूपकावली, शाश्वत् जीवन से संबंध रखने-वाले सरल उपाख्यान आदि विशेषताएँ, उन्हें वाक्य की सीमा से बाहर नहीं जाने देंगी और उनका तत्त्वचिंतन, उनके सिद्धांत संबंधी सवाद, उनका शुद्ध तर्कवाद आदि गुण उन्हें गद्य की परिधि में रखेंगे।

कर्म को प्रधानता देने वालों के विपरीत तत्त्वचिंतकों ने अतर्करणशुद्धि, ध्यान, मनन आदि को परम सत्ता तक पहुँचाने वाला साधन ठहराया—

धनुर्गहीत्वोपनिषद महात्म

शर ह्यपासानिहित सङ्घयीत।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा

सद्य तदेवाक्षर मौम्य विद्धि ॥

[हे मौम्य ! उपनिषद् (ज्ञान) महास्वरूप धनुष लेकर उस पर उपामना रूप-तीक्ष्ण बाण चढ़ा और फिर ब्रह्मभावानुगत चित्त से उसे शीघ्रर अक्षर सत्य का वेध कर।]

रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदों की विचारधारा में मिल जाते हैं। रहस्यभावना के लिए द्वंद्व की स्थिति भी

वश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरहो की अनुभूति असंभव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार 'ख' की है।

द्वैती के लिए तत्त्वचिंतक अपनी सांकेतिक शैली में कहता है—

द्वा सुपर्णा समुज सखाया

समान वृक्षं परिपस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-

नशनन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

—मु० उप०

(साथ रहने और समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही तह पर रहते हैं। मैं एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा भोग न करके देखता रहता है।)

आत्मा और परम तत्त्व की एकता भी अनेक रूपों में व्यक्त की गई

तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि ।

छा० उप०

(वह सत्य है, आत्मा है, वह तू है।)

नैह नानास्ति किंचन ।

—क० उप०

(यहां नानारूप कुछ नहीं है।)

अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेदा ।

—बृ० उप०

(वह अन्य है, मैं अन्य हूं, जो यह जानता है वह नहीं जानता।)

रहस्यवादीयों के समान ही अनेक तत्त्वदर्शक भी इच्छा के द्वारा ही आत्मा र परमात्मा की एकता संभव समझते हैं—

यमेवैव वृणुते तेन लभ्यः ।

—मु० उप०

[जिस परमात्मा को यह (आत्मा) वरण करता है, उस वरण के द्वारा ही परम तत्त्व प्राप्त हो सकता है।]

इस एकता के उपरान्त आत्मा और ब्रह्म में अंतर नहीं रहता। आत्मा अपनी ताधियां छोड़कर परम सत्ता में वैसे ही लीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्पन्दमानः समुद्र-

स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

(जैसे निरंतर बहती हुई सरिताएं नाम-रूप त्यागकर समुद्र में विलीन होती हैं।)

उसी चेतन तत्त्व से सारा विश्व प्रकाशित है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।

उमके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है । 'सारा ससार उसी से आलोकित है ।)

उपर्युक्त पवित्रता हमें कबीर के 'लाती मेरे लाल की जित देखीं तित लाल' का स्मरण करा देती है ।)

वह परम सत्ता के निकट होकर भी दूरी का भास देती है ।

सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतर विभाति

दूरात् सुदूरे तदिहमितके च ।

—मु० उप०

(वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है और दूर से भी दूर, पर इस शरीर में अत्यंत समीप भी है ।)

जायसी ने 'पिय हिरदै महें भेंट न होई' में जो कुछ व्यक्त किया है, उसे बहुत पहले उपनिषद्काल का मनीषी भी कह चुका था । वेद का सर्ववाद भी उपनिषदों के चिंतन में विशेष महत्त्व रखता है ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-

ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।

(इसी से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसी से अनक रूप वाली नदियां प्रवाहित हैं ।)

तदेतस्मै यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिगाः ।

—मु० उप०

(वही सत्य है । उसी ज्योतिर्मय से सब ऐसे उत्पन्न हुए हैं, जैसे प्रदीप्त आग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रा स्फुलिग ।)

रहस्यवादियों ने परम तत्त्व और आत्मा के बीच में माधुर्यभावमूलक संबंध की स्थापना के लिए, उन दोनों में पुरुष और नारी-भाव का आरोप किया है । इस कल्पना की स्थिति के लिए जो धरातल आवश्यक था, वह तत्त्वचितक द्वारा निमित्त हुआ है । सांख्य ने जडत्व को त्रिगुणात्मक प्रकृति और विचार-रूपा चेतन-तत्त्व को पुरुष की सज्ञा दी है, अतः इन सज्ञाओं ही में इस प्रकार का अंतर उत्पन्न हो गया, जो पुरुष और नारी रूप की कल्पना ही महज बर दे । जड़ तत्त्व से उत्पन्न प्राणि-जगत् भी प्रजा और भृष्टि कहनाता रहा ।

आत्मा अपने सीमित रूप में जड़ में बंधा है, अतः प्रकृति की उपाधियां उसे मिला जाने के कारण, वह भी परम पुरुष के निकट प्रकृति का परिचय लेकर

उपस्थित होने लगा ।

आत्मा को चिति के रूप में ग्रहण करने वाले मनीषी भी उसके स्वभाव का आभास देने के लिए नारी सजाओं का प्रयोग करने लगे ।

इयं कल्याणजरा मृत्यस्यामृता गृहे ।

—अथर्व०

(यह कल्याणी, कभी जीर्ण न होने वाली और मरणशील शरीर में अमृता नित्य है ।

ऋग्वेद के मनीषी भी कही-कही अपनी बुद्धि या मति के लिए वरणीय वधू का प्रयोग करते हैं ।

इस सबध में जो आत्मसमर्पण का भाव है उसके भी कारण हैं । जो सीमित है, वही असीम में अपनी भुक्ति चाहता है, पर इम भुक्ति को पाने के लिए उसे अपनी सीमा का समर्पण करना ही होगा । नदी समुद्र में मिलकर अथाह हो जाती है, परंतु इस लक्ष्य की प्राप्ति तब तक संभव नहीं जब तक वह अपनी नाम-रूप आदि सीमाएं समुद्र को समर्पित न कर दे ।

समर्पण के भाव ने भी आत्मा को नारी की स्थिति दे डाली । सामाजिक व्यवस्था के कारण नारी अपना कुल, गोत्र आदि परिचय छोड़कर पति को स्वीकार करती है और स्वभाव के कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर उस पर अधिकार पाती है । अतः नारी के रूपक से सीमाबद्ध आत्मा का असीम में लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है ।

आत्मा और परमात्मा के इस माधुर्यभावमूलक संबंध ने सगुणोपासना पर भी विशेष प्रभाव डाला है । सगुण-भक्त द्वैत को लेकर चलता है । एक सीमा दूसरी सीमा में अपनी अभिव्यक्ति चाहती है । एक अपूर्ण व्यक्तित्व दूसरे पूर्ण व्यक्तित्व के स्पर्श का इच्छुक है । भक्त विवश सीमाबद्ध है और इष्ट परम तत्त्व की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए स्वेच्छा से सीमाबद्ध है, पर हैं तो दोनों सीमाबद्ध ही । ऐसी स्थिति में उनके बीच में सभी मानवीय सबध संभव हैं । पर माधुर्य-भावमूलक सबध तो लौकिक प्रेम के बहुत समीप आ जाता है, क्योंकि लौकिक प्रेम के परिष्कृततम रूप में, प्रेमपात्र भी परम तत्त्व की अभिव्यक्तियों में पूर्ण अभिव्यक्ति बन जाने की क्षमता रखता है ।

दक्षिण की अदास, उत्तर की मीरा, बगाल के चैतन्य आदि में हमें कृष्ण पर आश्रित माधुर्यभाव के उज्ज्वल रूप मिलते हैं । परंतु स्थूल धरातल पर उत्तर-कर माधुर्यभावमूलक उपासना हमें देवदासियों के विवश करण जीवन और सप्र-दायो में प्रचलित सुखवाद के ऐसे चित्र भी दे सकती, जो भक्ति की स्वच्छता में मलिन धब्बे जैसे लगते हैं ।

भारतीय रहस्यभावना मूलक बुद्धि और हृदय की संधि में स्थिति रखती

है। एक से यह सूक्ष्म तत्त्व की व्यापकता नापती है और दूसरे से व्यक्त जगत् की गहराई की चाह लेती है। यह समन्वय उमके भावावेग को बुद्धि की सीमा नहीं तोड़ने देता और बुद्धि को भाव की असीमता रोकने के लिए तट नहीं बाधने देता। रहस्यानुभूति भावावेश की आधी नहीं, धरन् ज्ञान के अनंत आकाश के नीचे अजस्र प्रवाहमयी त्रिवेणी है, इसी से हमारे तत्त्वदर्शक बौद्धिक तथ्य को हृदय का सत्य बना सके। बुद्धि जब अपनी हार के क्षणों में थके स्वर में कहती है—अविज्ञात विज्ञानताम् (जानने वालों को वह ब्रह्म अज्ञात है), तब हृदय उसकी हार को जय बनाता हुआ विश्वास-भरे कंठ से उत्तर देता है—तत्त्वमसि (तुम स्वयं वही हो)।

बौद्ध और जैन मतों पर भी उपनिषदों की रहस्यभावना का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा।

वेदांत का अहंकार, मनस् और विज्ञान के शून्य आत्मन्, उस आत्मा से भिन्न है जो इनकी समष्टि है। चरम विकास के उपरांत आत्मन् की शून्य व्यापकता, बौद्ध मत के उस निर्वाण के निकट पहुँच जाती है जो विकास क्रम के अंत में बोधिसत्त्व (विकास-क्रम में बंधे जीव) को एक शून्य स्थिति में मुक्ति देता है। 'सर्वभूतहित' और 'मा हिंस्यात्' की भावना बुद्ध-मत की महामैत्री और महाकरुणा में इतना विस्तार पा गई कि वह चरम विकास तक पहुँचाने वाला साधन ही नहीं, उमका लक्षण भी बन गई। अन्य मतों में करुणा परम तत्त्व से तादात्म्य का माध्यम मात्र है, पर बुद्ध की विचारधारा में वह परम तत्त्व का स्थान ही ले लेती है। करुणा किसी परम तत्त्व से तादात्म्य के लिए स्थिति नहीं रखती, बरन् वह बोधिसत्त्व की स्थिति के अभाव का साधन और उनके चरम विकास का परिष्कृत है। सबके प्रति महामैत्री और महाकरुणा से युक्त होकर ही बोधिसत्त्व बुद्ध होता और निर्वाण तक पहुँचता है। इस प्रकार अभाव तक पहुँचाने वाला यह भावजगत्, परम तत्त्व की व्यापकता में अपने आपको खो देनेवाले रहस्यवादी के विश्वव्यापी प्रेमभाव से विशिष्ट साम्य रखता है।

बौद्ध धर्म अज्ञान और तृष्णा को दुःख का कारण मानता है, जो उपनिषदों में मिलने वाली अविद्या और काम के स्थावर हैं। अंतःकरण की शुद्धि को प्रधानता देने वाले मनीषियों के गमान् बुद्ध ने भी कर्मकांड को महत्त्व नहीं दिया। पर बुद्ध मत का साधना त्रय योग के साधना-त्रय से भिन्न नहीं रहा। ज्ञान के व्यापक स्पर्श को खोजकर बौद्धों में भी एक ऐसा संप्रदाय उत्पन्न हो गया, जो साधना प्राप्त तिष्ठियों का प्रयोग मौनित्य सुख-भोग के लिए करने लगा।

जैन मत ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया और ब्रह्म की एवता को नया रूप दिया। जीवन के चरम विचार के उपरान्त वे शून्य या स्थिति के अभाव को न मानकर उमके व्यापक भाव को मानते

हैं। जगत् में सब जीवों में ईश्वरता है और पूर्ण विकास के उपरांत जीव किसी परम तत्त्व से तादात्म्य न करके स्वयं असीम और व्यापक स्थिति पा लेता है।

जैन धर्म का साधना-क्रम अतःकरण की शुद्धि के साथ शारीरिक तप को विशेष महत्त्व देता है।

नामरूप में सीमित किसी व्यक्तिगत परमात्मा को न मानकर अपनी शून्य और असीम व्यापकता में विश्वास करने वाले इन मतों और अपने आपको किसी निर्गुण तथा निराकार व्यापकता का अंश मानने वाले और उसमें अपनी लय को, चरम विकास समझने वाले रहस्यवादियों में जो समानता है, उसे साम्प्रदायिक विद्वेष्टों ने छिपा डाला। एक पक्ष, नास्तिक धर्म की परिधि में घिरा है, दूसरा धर्महीन दर्शन की परिभाषा में बंधा है, पर इन सबके मूलगत तत्त्व एक ही चिंतन-परंपरा का पता देते हैं। जीवन के कल्याण के प्रति सतत जागरूकता सब जीवों के प्रति स्नेह, कृपा और मंत्री का भाव, पारलौकिक सुख-दुःख के प्रतीक स्वर्ग-नरक में अनास्था, साधना का अतर्मुखी क्रम आदि, भारतीय तत्त्व-चिंतन की अपनी विशेषताएँ हैं।

हमारे तत्त्व-चिंतकों की बुद्धि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर महाशून्य को सब ओर से स्पर्श कर कल्याण का ऐसा बादल घेर जाती है जो जीवन की स्थूल धरती पर बरसकर ही सार्यकना पाता है। हमारे यहाँ नास्तिकता बुद्धि की वह निर्ममता है, जो कल्याण की खोज में किसी भी बाधा को नहीं ठहरने देना चाहती, अतः वह जीवन संघर्षी भास्या से इस तरह भरी रहती है कि उसे शून्य मानना कठिन है।

पश्चिम में प्लेटो और प्लोटिनस ने जिस रहस्य-भावना को जन्म और विकास दिया, वह ब्रह्म और जीव की एकता पर आश्रित न होकर ब्रह्म और जगत् के बिब-प्रतिबिब-भाव में स्थिति रखती है। दूसरे शब्दों में जगत् का तत्त्व-रूप ब्रह्म है और ब्रह्म का छाया-रूप जगत्। ऐसी स्थिति में आत्मा-परमात्मा की अद्वैत स्थिति का चरम विकास सहज न हो सका। इस प्रवृत्ति से जो कल्पना, प्रधान रहस्य-भाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव दर्शन से लेकर रोमांटिक काव्य तक मिलता है। इस्लाम और ईसाई मतों पर भी इसकी छाया है, पर उन पर भारतीय रहस्य-चिंतन का भी कम प्रभाव नहीं।

ईसाई मत का रहस्यवाद एक विशेष स्थिति रखता है। वह धर्म की परिधि में उत्पन्न हुआ और वही रहा, अतः स्वयं एक संप्रदाय के भीतर संप्रदाय बन गया। धर्म और रहस्यभावना में विरोध न होने पर भी वे एक नहीं हो सकते। धर्म बाह्य जीवन में सामंजस्य लाने के लिए विधिनिषेधात्मक सिद्धांत भी देता है और सबके कारणभूत तत्त्व को एक निश्चित व्यक्तित्व देकर हमारे विश्वास में प्रतिष्ठित भी करता है। रहस्य का अर्थ वहाँ से होता है, जहाँ धर्म की इति है। रहस्य का उपासक हृदय में सामंजस्यमूलक परम तत्त्व की अनुभूति

प्राप्त करता है और वह अनुभूति परदे के भीतर रखे हुए दीपक के समान अपने प्रकाश आभास से उसके व्यवहार को स्निग्धना देती है। रहस्यवादी के लिए नरक, स्वर्ग, मृत्यु, अमरता, परलोक, पुनर्जन्म आदि का कोई महत्त्व नहीं। उसकी स्थिति में केवल इतना ही परिवर्तन संभव है कि वह अपनी सीमा को अपने असीम तत्त्व में खो सके।

पश्चिमीय रहस्यवाद के प्रवेशद्वार पर हम प्लोटिनस (Plotinus) के उपरात डायोनिसियस (Dionysius) का रहस्यमय व्यक्तित्व पाते हैं, जिसने मध्य-युग के समस्त रहस्य चिंतन को प्रभावित किया है। यह रहस्यवादी होने के साथ-साथ ईसाई धर्म का विश्वासी अनुयायी भी था, अतः इसकी चिंतन-मद्धति दोनों को समान महत्त्व देती चलती है।

ईसाई मत की पहली धार्मिक कठोरता ने मनुष्य में किसी ऐसे नित्य और अक्षर तत्त्व को नहीं स्वीकार किया था, जो परमात्मा से एक हो सके। डायोनिसियस भारतीय ऋषियों के समान ही, मनुष्य को शरीर, जीवात्मा और आत्मा के साथ देवता है। वह आत्मा ऐसी नित्य और अक्षर है जैसा परमात्मा, अतः दोनों का तादात्म्य संभव है। परमात्मा को आत्मा से एक कर देने का साधन प्रेम है। डायोनिसियस कहता है—'It is the nature of love to change a man into which he loves' (प्रेम का यह स्वभाव है कि वह मनुष्य को उसी वस्तु में बदल देता है, जिससे वह स्नेह करता है।)

परमात्मा के संबंध में उसका मत है—'If any one sees God and understands what he sees, he has not seen God at all' (यदि कोई परमात्मा को देखता है और उसे अपने दृष्टि विषय का ज्ञान है तब उसने उसे देखा ही नहीं। हमारे तत्त्वदर्शी भी स्वीकार करते हैं—'यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स (जिम्को ज्ञात नहीं उसको ज्ञात है, जिम्को ज्ञात है वह उसे नहीं जानता)।

स्वर्ग-नरक के संबंध में उसने जो विचार हैं, वे रहस्यवादियों की विचार-परंपरा से साम्य रखते हैं—'To be separated from God is hell and the sight of God's Countenance is heaven' (परमात्मा से दूरी नरक और उसका दर्शन स्वर्ग है।)

एक्हार्ट (Eckhart) भी आत्मा-परमात्मा की एकता और इन आत्मा में तादात्म्य सहज करने वाली शक्ति की स्थिति मानता है—

'There is no distinction left in soul's consciousness between itself and God' (आत्मा की जागृति में परमात्मा और आत्मा में अंतर नहीं रहता।

माध्यमभाव पर आधुनिक और धर्म-विशेष में भीमिन इन रहस्यवाद ने एक

ऐसी उपासना पद्धति को जन्म दिया, जिसमें उपासक, बधू के रूप में आत्मसमर्पण द्वारा प्रभु से तादात्म्य प्राप्त करने लगे। इस आध्यात्मिक विवाह के इच्छुक उपासक और उपासिकाओं के लिए जो साधनाक्रम निश्चित था, उनका अभ्यास मठों के एकांत में ही संभव था। यह रहस्योपासना हमारी माधुर्यभावमूलक समुहोपासना के निकट है। महात्मा ईश की स्थिति हमारे अवतारवाद से भिन्न नहीं और उनकी साकारता के कारण यह रहस्योपासक भवत ही कहे जाएंगे। आराध्य जब नाम-रूप से बंधकर एक निश्चित स्थिति पा गया, तब रहस्य का प्रश्न ही नहीं रहा।

पश्चिम के काव्य में मिसने वाली रहस्य-भावना उस प्रकृतिवाद से संबंध रखती है, जिसमें प्रकृति का प्रत्येक अंग सजीव और स्वतंत्र स्थिति रखता है। प्रकृति के हर रूप में सजीवता देख लेना ही रहस्यानुभूति नहीं है, क्योंकि रहस्य में प्रकृति की खडस-सजीवता एक व्यापक परम तत्त्व की अखंड सजीवता पर आश्रित रहती है, जो आत्मा का प्रेय है। सजीव जंतुओं का समूह शरीर नहीं कहा जाएगा, पर जब अनेक अंग एक की सजीवता में सजीव हों तब वह शरीर है। रहस्यवादी के लिए विश्व ऐसी ही एक सजीव स्थिति में रहता है। इनके, बड़स्वर्य जैसे कवि एक ओर प्रकृतिवादी हैं। और दूसरी ओर जगत् और ब्रह्म के बिंब-प्रतिबिंब भाव से प्रभावित कल्पनाशील रहस्यवादी। इस रहस्य-भावना में परम तत्त्व से आत्मा की एकता का चरम विकास भी सहज नहीं और परम तत्त्व के प्रति आत्मा के तीव्र प्रेम-भाव की स्थिति भी कठिन है।

सूक्तियों का रहस्यवाद इससे कुछ भिन्न और भारतीय रहस्य-चिंतन के अधिक निकट है।

इस्लाम के एकेश्वरवाद में भाव की क्रीड़ा के लिए स्थान नहीं। प्रकृति भी इतनी विविधरूपी और समृद्ध नहीं कि मनुष्य के भावजगत् का व्यापक आधार बन सके। अतः हृदय का भावावेग सहस्र-सहस्र धाराओं से फैलकर मानवीय सबंधों को बहुत तीव्रता से घेरता रहा। काव्य में मिलन-विरह संबंधी कल्पना, अनुभूति आदि का जैसा विस्तार मिलता है, उससे भी यही निष्कर्ष निकलेगा।

भारतीय चिंतन-पद्धति के समान वहां तत्त्व-चिंतन का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं हुआ था, जिसमें मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्ति को स्वच्छंद छोड़ सके। ससार और उसमें व्याप्त सत्ता के सबंध में कोई विज्ञासा या रहस्य की अनुभूति होने पर उसकी अभिव्यक्ति के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आ उठसित होनी थी। धर्म की सीमा के भीतर विश्वास का कठोर दामन होने के कारण, ऐसी अनुभूतियाँ वहां प्रवेश नहीं पा सकती थी और लौकिक प्रेम की सकीर्ण परिधि में स्थूल की प्रधानता के कारण उनकी स्थिति संभव नहीं रहती थी।

हमारे कर्मकांड की एकरसता के विरोध में जैसे भावात्मक ज्ञानवाद का विकास हुआ, धर्मगन शूण्यता की प्रतिक्रिया में वैसे ही सूफियों से दर्शनात्मक हृदयवाद का जन्म हुआ। भारतीय वेदांत ने उन्हें बहुत प्रभावित किया, क्योंकि वह बुद्धि और हृदय दोनों के लिए ऐसा क्षितिज खोल देता है, जिसमें व्यापकता भी विविध रचमयी है।

यहां के तत्त्व-चिंतकों के समान सूफी भी हक, बदा और शैतान के रूप में परमात्मा आत्मा और अविद्या की स्थिति स्वीकार करते हैं।

‘तद्भवगतेन चेतसा’ के द्वारा मनीषियों ने जो संकेत किया है, उसको सूफियों में अधिक भावात्मक रूप मिल गया। इस प्रेम-तत्त्व के द्वारा सूफी परम आराध्य से एक हो सकता है। ‘स यो ह वै तत्पर ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति’ (जो निश्चयपूर्वक उस ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) की प्रतिध्वनि हम सूफी अक्षर के शब्दों में मिलनी है—‘प्रेम में मैं और तू नहीं रहते। अहं प्रेम के आधार में लय हो जाता है।’

इसी प्रकार शब्दतरो का कथन है—‘मैं और तू में कोई अंतर नहीं। एकता में किसी प्रकार का अंतर होता ही नहीं है। जिसके हृदय से द्वैत निकल गया, उसकी आत्मा से ‘अहम् ब्रह्मास्मि’ की ध्वनि गूजने लगती है।’ परम तत्त्व से छूटे हुए मनीषियों के समान ही रूमी वियोग के सबध में कहता है, ‘जो पुरुष अपने मूल तत्त्व से छूट गया है, उसको उससे पुनर्मिलन की चिंता रहनी है।’

‘ये एपीऽतर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्चेते’ (यह जो हृदय के भीतर का आकाश है वह (ब्रह्म) उमी में सोता है) को तत्त्वतः ग्रहण कर लेने पर बाहर के उपासना विधान की आवश्यकता नहीं रही। पर अंतःशुद्धि के लिए दूसरी अंतर्मुखी साधना पद्धति का विकास होना अनिवार्य हो गया। योग के साधनात्मक रहस्यवाद ने सूफियों की साधना-पद्धति को विशेष रूप-रेखा दी है। तुरीया-वस्था तक पहुँचने के पहले आत्मा की अवस्थाएँ, समाधि तक पहुँचने के पूर्व साधना का आरोह धर्म आदि का जैसा रहस्यात्मक विस्तार योग में हुआ है, उसी को सूफियों ने स्वीकृति दी है। पर उनका व्यष्टिगत प्रेय हमारे तत्त्व-दर्शन के समष्टिगत श्रेय का रूप नहीं पा सका।

सूफ (मफेद ऊन) का वस्त्र पहनने वाले इन फकीर रहस्यदृष्टाओं की स्थिति हमारे मनीषियों से भिन्न रही। इन्हें बहुत विरोध का सामना करना पड़ा जो इस्लाम धर्म का रूप देखने हुए स्वाभाविक भी था।

यहां ‘अनलह्व’ कहने वाला धर्म का विरोधी बनकर उपस्थित होता है, पर यहाँ ‘अहं ब्रह्मास्मि’ पुकारने वाला तत्त्वदर्शी की पदवी पाता है, क्योंकि हमारे यहाँ ब्रह्मरूप श्रेय बन जाना ही आत्मरूप प्रेय का चरण सिद्ध है।

इसके अतिरिक्त भारतीय रहस्यप्रवृत्ति लोक के निकट अपना इतना रहस्य खोल चुकी थी कि उसका द्रष्टा अमामाजिक प्राणी न माना जाकर सबका परम आत्मीय माना गया। सूफी संतों को परिस्थितियों ने उन्हें लोक से दूर स्थिति देकर उनके प्रेम को अधिक ऐकांतिक विकास पाने दिया; इसी से तत्त्वचिंतक बाहर के विरोधों की चर्चा नहीं करते, पर सूफियों की रचनाओं में लोक-कठोरता का ब्योरा भी मिलता है।

परंतु इन्हीं कारणों ने सूफियों के काव्य को अधिक मर्मस्पर्शिता भी दे डाली। तत्त्वचिंतन की विकसित प्रणाली न होने के कारण उन्होंने परम तत्त्व की व्यापकता की अनुभूति और उसमें तादात्म्य की इच्छा को विशुद्ध भाव-भूमि पर ही स्थापित किया, अतः उनके विरह-मिलन की सांकेतिक अभिव्यक्तियां अपनी अलौकिकता में भी लौकिक हैं।

हिन्दी काव्य में रहस्यवाद वहां से आरंभ होना है, जहां दोनों ओर के तत्त्वदर्शी एक असीम आकाश के नीचे ही नहीं, एक सीमित धरती पर भी साथ खड़े हो सके। अतः दोनों ओर की विशेषताएं मिलकर गगान्यमुना के संगम से बनी त्रिवेणी के समान एक तीसरी काव्यधारा को जन्म देती हैं। इस काव्यधारा के पीछे ज्ञान के हिमालय की शत-शत सुपार-धवल उन्नत चोटियां हैं और आगे भाव की हरी-भरी पुष्पदुकूलिनी असीम धरती। इसी से इसे निरंतर गतिमय नवीनता मिलती रह सकती।

भारतीय रहस्यचिंतन में एक विशेषता और है। उसके समर्थक हर बार क्रांति के स्वर में बोलते रहे हैं। रुढ़िग्रस्त धर्म, एकरम कर्मकांड और बद्धमूल अंधविश्वास के प्रति वे कितने निर्मम हैं, जीवन के कल्याण के प्रति कितने कोमल हैं और विचारों में कितने मौलिक हैं, इसे उपनिषद्काल की विचार-धाराएं प्रमाणित कर सकेंगी। जीवन से उनका कोई ऐसा समझौता संभव ही नहीं, जो सत्य पर आश्रित न हो।

धर्म की दुर्लभ्य प्राचीरों और कर्मकांड की दुर्गम सीमाएं पार कर मुक्त आकाश में गुजने वाला रहस्यद्रष्टा का स्वर हमें चींका देता है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

पत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ईशावास्य उप०

(जो मनुष्य आत्मा का स्वभाव जानता है, जो सब भूतों में उसकी व्याप्ति का ज्ञान रखता है, उस एकत्व के द्रष्टा के लिए भ्रांति कैसी, खिन्नता क्यों ?)

बुद्धि के ऐसे सूक्ष्म स्तर पर भी तत्त्वदर्शक जीवन की यथार्थता नहीं भूलता, अतः इसी उपनिषद् में 'कुर्वन्नेवेहि कर्माणि जिजिबिषे'... आदि में हम पाते हैं—'यहा कर्म करता हुआ जीने की इच्छा कर। मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले ! तेरे लिए अन्य भाग्य नहीं है, नहीं है।'

रुद्धिया आदि अचल हैं, तो रहस्यदर्शकों के स्वर में शत-शत निर्भरो का वेग है, जीवन यदि विषम है, तो उनकी दृष्टि में अनंत आकाश का मजस्य है और धर्म यदि सकीर्ण है, तो उनके आत्मवाद में समीर का एक स्पर्श है।

इसी से प्रसिद्ध पश्चिमीय दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhauer) कहता

‘In the world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upanishads .. They are a product of the highest wisdom .. It is destined sooner or later to become the religion of the people.’

(संसार में उपनिषदों के समान उपयोगी और उदात्त बनाने वाला अन्य अध्ययन नहीं। वे उत्कृष्ट ज्ञान के परिणाम हैं। आगे या पीछे यही जनता धर्म होगा, यह निश्चित है।)

हिंदी में रहस्यवाद के अर्थ के साथ हमें कबीर में ऐसे प्राति-दूत के मिलते हैं, जिन्होंने जीवन के निम्नतम स्तर को ऊँचाई बना लिया, अपनी शिक्षा को आलोक में बदल दिया और अपने स्वर से वातावरण की जड़ता को शत-शत स्पर्शों से भर दिया।

कबीर तथा अन्य रहस्यदर्शी सत्ता और सगुण भक्तों में विशेष अंतर है। गुण उपासक यदि प्रज्ञात स्निग्ध आभा फैलाने वाला नक्षत्र है, तो रहस्यवाद अपने पीछे आनंद की प्रज्वलित लीक खींचने वाला उत्का-पिंड। जिसकी गति में निरचल स्थिति से हमारा चिर-परिचय है, अतः हम इच्छानुसार आखें ऊपर उठाकर देख भी सकते हैं और अनदेखा भी कर सकते हैं। तब हमारा हमारे दृष्टिपथ में ऐसे आकस्मिक वेग के साथ आता है कि उनकी प्रतिमंय स्थिति, पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के समान ही हमारी दृष्टि को आकर्षित लेती है। उसके विद्युत-वेग को देखने का प्रश्न हमारी रुचि और विधा की अपेक्षा नहीं करता। सगुण गायक हमारे साथ-साथ जीवन की रागिनी गाता और पथ बसाता हुआ चलता है। पर रहस्य का अन्वेषक कहीं दूर अंधकार खड़ा होकर पुकारता है— चले आओ, यकना हार है, रुकना मृत्यु है।

मुग के उपरांत छायावाद के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस विचारधारा को विद्युत्स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने स परंपरा को अक्षुण्ण रखा। अनेक क्रूर विरोध और विवेकशून्य आघातों के उपरांत भी उनमें कोई दीनता नहीं, जीवन से उनका कोई सस्ता समझौता नहीं और कल्याण के लिए उनके निकट कोई अर्पण मूल्य नहीं।

संभवतः पारस को छूकर सोना न होना लोहे का हाथ भी नहीं रहता— भारतीय सत्त्व-दर्शन ऐसा ही पारस रहा है □

गीति-काव्य

मनुष्य के सुख-दुःख जिस प्रकार चिरंतन है, उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही चिरंतन रही है; परंतु यह कहना कठिन है कि उन्हें व्यक्त करने के साधनों में प्रथम कौन था ?

संभव है जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़िया आनंद में चहचहा उठती है और मेघ को घुमड़ता-धिरता देखकर मधुर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहले अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति द्वारा ही किया हो। विशेषकर स्वर-सामंजस्य में बंधा हुआ गेय काव्य मनुष्य-हृदय के कितना निकट है, यह उदात्त-अनुदात्त स्वरो से बंधे वेदगीत तथा अपनी मधुरता के कारण प्राणी में समा जाने वाले प्राकृत-पदों के अधिकारी हम भली भाँति समझ सकते हैं।

प्राचीन हिंदी-साहित्य का भी अधिकांश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति विनीत आत्म-निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिगम्य तत्त्वनिर्देशन सगीत की मधुरता में बसा हुआ है, सूर के कृष्ण-जीवन का विखरा इतिहास भी गीतमय है और भीरा की व्यासक्ति पदावली तो सारे गीत-जगत् की सज्जशी ही कही जाने योग्य है।

सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने-चुने शब्दों में स्वर-माधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बंधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं, कारण हम प्रायः भाव की अतिशयता में कला की सीमा लाघ जाते हैं और उसके उपरांत, भाव के मस्कारमात्र में मर्मस्पर्शिता का शिथिल हो जाना अनिवार्य है। उदाहरणार्थ—दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त कंदन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है जिसमें सत्य का नितांत अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में भी है जिसमें संयम की अधिकता के माघ आवेग के भी अपेक्षाकृत सत्य हो जाने की संभावना रहती है, उसका प्रकाशन एक

दीर्घ निश्वास में भी है जिसमें समय की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती और उसका प्रकटीकरण निस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है।

वास्तव में गीत के कवि को आर्त्त ऋदन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ निश्वास में छिपे हुए समय से बाधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उभी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।

गीत यदि दूसरे का इतिहास न रहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके, तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सदेह नहीं। मीरा के हृदय में बँधी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्य था, उनके बाह्य राजरानीपन और आंतरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूति थी, अतः उसका 'हेली मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार, उस ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उनकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

सूर का संयम भावों की कोमलता और भाषा की मधुरता के उपयुक्त ही है, परंतु क्या इतनी पराई है कि हम बहने की इच्छामात्र लेकर उसे सुन सकते हैं, बहते नहीं और प्रातःस्मरणीय गोस्वामी जी के विनय के पद तो आकाश की मदाग्निनी बहे जा सकते हैं, हमारी कभी गंदली, कभी स्वच्छ धेगवती सरिता नहीं। मनुष्य की चिरतन अपूर्णता का ध्यान कर उनके पूर्ण इष्ट के सम्मुख हमारा भस्तक थड़ा से, विनय से नत हो जाता है, परंतु प्रायः हृदय कातर ऋदन नहीं कर उठता। इसके विपरीत, कबीर के रहस्य-भरे पद हमारे हृदय को स्पर्श कर सीधे बुद्धि से टकराते हैं। अधिनंतर हममें उनके विचार ध्वनित हो उठते हैं, भाव नहीं, जो गीत का लक्ष्य है।

व्यक्तिप्रधान भावात्मक काव्य का वही अंश अधिक से अधिक अशस्तल में समा जाने वाला, अनेक भूले सुख-दुःखों की स्मृतिपों में प्रतिध्वनित हो उठने के उपयुक्त और जीवन के लिए कोमलतम स्पर्श के समान होगा, जिसमें कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को सत्य रूप में व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी भीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने में सफल हो सका हो। केवल सत्कारमात्र भावात्मक कविता के लिए सफल साधन नहीं है और न किसी भीती अनुभूति की उतनी ही सीधे भानसिक पुनरावृत्ति ही सबके लिए सब अवस्थाओं में सुलभ मानी जा सकती है।

हिंदी-काव्य का वर्तमान नवीन युग गीतप्रधान ही कहा जाएगा। हमारा व्यस्त और व्यक्तिप्रधान जीवन हमें काव्य के किसी ओर अंग की ओर दृष्टिपात

करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए ससार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कपन को अंकित करने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। संभव है, यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न रहकर संसार-भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।

इस युग के गीतों की एकरूपता में भी ऐसी विविधता है, जो उन्हें बहुत काल तक सुरक्षित रख सकेगी। इसमें कुछ गीत मलय समीर के झोके के समान हमें वाहुर से स्पर्श कर अंतर तक सिहरा देते हैं, कुछ अपने दर्शन से बोझिल पंखों को, हमारे जीवन को सब ओर से छू लेना चाहते हैं, कुछ किमी अलक्ष्य डाली पर छिपकर बैठी हुई कोकिल के समान हमारे ही किसी भूले स्वप्न की कथा कहते रहते हैं और कुछ मंदिर के पूत धूप-धूम के समान हमारी दृष्टि को धुंधला, रंजित मन को सुरक्षित किए बिना नहीं रहते।

काव्य की ऊंची-ऊंची हिमालय-श्रेणियों के बीच में गीतिमुक्ता एक सजल होमल मेघखंड है, जो न उनसे दबकर टूटता और न बधकर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रंगस्नात होकर उन्नत चोटियों का शृंगार कर आता है और हर एक झोके पर उड़-उड़कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पर्श बिखेरता है।

साधारणतः गीत वैयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथा-गीत और नीति-पद तक अपनी संवेदनीयता के लिए, व्यक्ति की भावभूमि की उपेक्षा करते हैं। अलौकिक आत्मसमर्पण हो या लौकिक स्नेह-निवेदन, तात्कालिक उल्लास-विपाद हो या शाद्वत् सुख-दुखों का अभिव्यजन, प्रकृति का सौंदर्य-दर्शन हो या उस सौंदर्य में चैतन्य का अभिनदन, सबमें गेयता के लिए हृदय अपनी गणी में समार-कथा कहता चलता है। संसार के सुख से हृदय की कथा, इतिहास अधिक है, गीत कम।

आज हम ऐसे बौद्धिक युग में से जा रहे हैं, जो हृदय को मामल यत्र और उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारों की पद्धति मात्र समझता है, फलतः गीत की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है, यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्क-क्रम से जस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है, उसका भार गीत नहीं सभाल सकता; तर्क से परे इन्द्रियों की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, उसकी अभिव्यक्ति में गेय स्वर-सामञ्जस्य का विशेष महत्त्व रहा है। वेद-गीतों के विश्वचित्तन से संतों के जीवन-दर्शन तक फैली हुई हमारी गीत-परंपरा इस आत्मानुभूत ज्ञान की आभारी है। पर

यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के सस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहज नहीं। इसी कारण वेदकालीन मनीषियों का आत्मानुभूत ज्ञान और उसकी सामञ्जस्यपूर्ण अभिव्यक्ति सब युगों में संभव न हो सकी।

रहस्य-गीतों का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखंड चेतना है, पर वह साधक की मिलन-विरह की भाँमिक अनुभूतियों में इस प्रकार घुल-मिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गई। भावों के अनंत वैभव के माध्य ज्ञान की अखंड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, वही रंगीन, कही सितासित, कही सघन, कही हल्के, कही चादनीघात और कही अश्रुस्नात बादलों से छाए आकाश की होती है। व्यक्ति अपनी दृष्टि को उस अनंत रूपात्मकता के किसी भी खंड पर ठहराकर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अतः आनंद और विषाद की मर्मानुभूति के साथ-साथ, उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का स्पर्श भी मिलता रहता है। पर ऐसे गीतों में निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का जैसा समतुलन अपेक्षित है, वैसा अन्य गीतों में आवश्यक नहीं, क्योंकि आधार यदि बहुत प्रत्यक्ष हो उठे, तो बुद्धि उसे अपनी परिधि से बाहर न जाने देगी और भाव यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे, तो हृदय उसे अपनी सीमा में न रख सकेगा। रहस्य-गीतों में आनंद की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुँचते हैं।

सगुणोन्मुख गीतों में सत्-चित् की रूप-प्रतिष्ठा के द्वारा ही आनंद की अभिव्यक्ति संभव हो सकती है, इसी से कवि को बहुत अतर्मुखी नहीं होना पड़ता। यह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुँचने का सहज मार्ग पा लेता है। सगुण गायक अनेक रंग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रंगता है, अतः वह उस निर्गुण गायक से भिन्न रहेगा, जिसके पाम रंग एक और चित्र-पट शून्य असीम है। एक की निपुणता रंगों के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर है और दूसरे की, रेखाओं की चिरनवीन अनंतता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है, तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अनौकिकता वैसे ही बंधी रहेगी, जैसे दीप की लौ से आलोक-मंडल, और यदि रहस्यद्रष्टा तन्मय आत्म-निवेदक है, तो उसके गीत की अलौकिक असीमता से, जौकिक सीमाएँ वैसे ही फूटती रहेंगी, जैसे अनंत समुद्र में हिलोरें।

वास्तव में सगुण-गीत में जीवन की विस्तृत कयात्मकता के लिए भी इतना स्थान है कि वह लोर-गीत के निकट आ जाता है। लोक-गीत की मूलभूत इतिवृत्तात्मकता का इसे कम भय है और उसकी भावों की अतिसाधारणता का खटका भी अधिक नहीं, पर उसकी मरल सवेदनीयता की सब सीमाओं तक उसकी पहुँच रहती है। हमारी गीत-परंपरा विविधरूपी है, पर उसका वही रूप

पूर्णतम है, जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरंतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबध रखनेवाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। परन्तु अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्ति सीमा में सीधे सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःख-रागिनी का वायुमंडल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य ससार की कठोर सीमाओं और अतर्जंगत् की असीमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अतर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आंतरिक सामंजस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी संवेदनीयता में गति की वंसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निरम्य शब्दा-

न्यर्मुत्सको भवति यत्सुमितोऽपि जन्तुः । ..

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वंसी ही व्यापकता मिलती है, जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट संवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावना।

आज के दुःख का संबंध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामंजस्य देने का आग्रह, इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे में वंसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणों में भोजन की इच्छा नहीं, उनमें एक व्यक्ति के लिए अन्य दुःख, चिंता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वंसी भूख की व्यथा की नहीं। परन्तु उन्हीं परिस्थितियों में यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जाएगी, जब वह दूसरे युमुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आलों से दूर बाहर गाने वाले की करुण रागिनी हममें प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परन्तु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिखारी का दुःख तब तक हमारा न हो सकेगा, जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भौतिक अभाव उन्हीं को अधिक स्पर्श करते हैं, जो हमारे निकट होते हैं; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नहीं रखते, उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओं का प्रमुख नहीं।

लक्ष्यतः एक होने पर भी अतर्जंगत् के नियम को भौतिक जगत् नहीं करता। उनमें हमें अपनी गहराई में दूसरों को खोजना पड़ता है और इस

पूर्णतम है, जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबंध रखनेवाली सुख-दुःखात्मक अनुभूति ही रहेगी। परंतु अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति-सापेक्ष है। साधारणतः गीत व्यक्ति सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।

पिछली दुःख-रागिनी का वायुमंडल और आज की दुःख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य ससार की कठोर सीमाओं और अंतर्जगत् की असीमता की अनुभूति ने उस दुःख को एक अंतर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दुःख प्रायः जीवन के आंतरिक सामग्र्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलतः उसकी सवेदनीयता में गति की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है, जिसे कालिदास ने—

रम्पाणि वीक्ष्य भधुरांश्च निशम्य शब्दा-

न्यर्युत्मको भवति यस्मुत्तितोऽपि जन्तुः । ..

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है, जिसकी ओर भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्' कहकर संकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट सवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन।

आज के दुःख का संबंध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अतः समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामग्र्य देने का आग्रह, इसकी विशेषता है। इस धरातल पर यह सहज नहीं कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे में वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणों में भोजन की इच्छा नहीं, उनमें एक व्यक्ति के लिए अन्य दुःख, चिंता आदि की अनुभूति जैसी सहज है, वैसी भूख की व्याधा की नहीं। परंतु उन्हीं परिस्थितियों में यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जाएगी, जब वह दूसरे वृक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके। आखों से दूर बाहर गाने वाले की करुण रागिनी हममें प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परंतु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नम्र भिखारी का दुःख तब तक हमारा न हो सकेगा, जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन में भी हमारे भौतिक अभाव उन्हीं को अधिक स्पर्श करते हैं, जो हमारे निकट होते हैं; जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नहीं रखते, उनके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओं का विशेष मूल्य नहीं।

लक्ष्यतः एक होने पर भी अंतर्जगत् के नियम को भौतिक जगत् नहीं स्वीकार करता। उनमें हमें अपनी गहराई में दूसरों को खोजना पड़ता है और इसमें दूसरों

की अनेकता में अपने आपको खो देना। दूसरे की आँखें भर लाने के लिए हमें अपने आसुओं में डूब जाने की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरे के डबडबाये हुये नेत्रों की भाषा समझने के लिए हमें अपने सुख की स्थिति को, दूसरे के दुःख में डूबा देना होगा। जब एक व्यक्ति दूसरे के दुःख में अपने दुःख को मिलाकर बोलता है, तब उसके कंठ में दो का बल होगा, जब तीसरा उन दोनों के दुःख में अपना दुःख मिलाकर बोलता है, तब उसके कंठ में तीन का बल होगा और इसी क्रम से जो असंख्य व्यक्तियों के दुःख में अपना दुःख खोकर बोलता है, उसके कंठ में असीम बल रहना अनिवार्य है।

अनर्जगत में यह व्यापकता गहराई का रूप लेकर व्यष्टि से समष्टि तक पहुँचती है। सफल गायक यही है जिसके गीत में सामान्यता हो, अर्थात् जिसकी भावतीव्रता में दूसरों को अपने सुख-दुःखा की प्रतिध्वनि सुन पड़े और यह तब स्वतः सम्भव है, जब गायक अपने सुख-दुःखों की गहराई में डूबकर या दूसरे के उल्लास विषाद से सच्चा तादात्म्य कर जाता है।

भारतीय गीति परंपरा आरम्भ में ही बहुत समृद्ध रही, अतः उसका प्रभाव सब युगों के गीतों को विविधता देता रह सका। ऐसा गीति साहित्य जिसमें सूक्ष्म ज्ञान का असीम विस्तार, प्रकृति रूपों की अनंतता और भाव का बहुरंगी जगत् सभाला हो, आगत काव्य-युगा पर प्रभाव डालने बिना नहीं रहता।

तत्त्व का छाया और भाव की धरती पर विकास पाने के कारण यहाँ वाणी को बहुत परिष्कृत रूप और जीवन का निश्चित स्पर्शन मिला सका। इसी से उच्चारण में एक वर्ण की मूल अक्षम्य और ध्वनि में एक कण की त्रुटि अमहत्त्व हो उठती थी।

पावका न सरस्वती वाजे वाजिनवती

महो अर्ण सरस्वती प्रचतयति केतुना

ऋग्वेद १-३-१०, १२

(हमारी वाणी पवित्र करने वाली और ऐश्वर्यमयी है। यह सरस्वती ज्ञान के महासागर तक पहुँचाने में समर्थ है।)

यही पवित्रता अधिक सूक्ष्म रूप में शब्द को ब्रह्म की सत्ता तक पहुँचाने में सहायक हुई। गीत की वाजिन वाणी से अधिक थी, क्योंकि वह शब्दों के चयन को लय में सतरण देकर उनकी व्यापकता और बड़ा देता था। इसी से पूरा उत्साहगान जीवन-समुद्र पर लय का सहारा हुआ पावन बन जाता है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—

‘गीमि वरण सीमहि’ (हे मेरे वरणीव ! मैं गीत से तुम्हें वाचना हूँ) इतना

ही नहीं, गीत गायक के प्रभु को भी प्रिय है—

सेम नः स्तोमया गह्य पेद सवनं सुतम
गोरो न तृपित पिव ।

श्रु० १-१६-५

(प्यासा और मृग जैसे जलाशय से जल पीता है, वैसे ही तुम मेरे गीत में तन्मय होकर तृप्ति का अनुभव करो ।)

तत्त्व की सरल व्याख्या, प्रकृति की रूपात्मकता, सौंदर्य और शक्ति की सजीव साकारता, लौकिक जीवन के आकर्षक चित्र आदि इन गीतों को बहुत समृद्ध कर देते हैं । चित्तन के अधिक विकास ने गीत के स्थान में गद्य को प्रधानता दी, पर गीत का क्रम लोक-जीवन को घेरकर विविध रूपों में फैलता रहा ।

बौद्ध धर्म जीवन की विषमता में उत्पन्न है, अतः दुःख-निवृत्ति के अन्वेषकों के समान वह भाव के प्रति अधिक निर्भर रहा, पर उसकी विशाल कहणासक्ति पृथ्वी पर जो गीत के फूल खिले, वे जीवन से मुरझित और दुःख के नीहारकणों से बोझिल हैं । वैयक्तिक विरागभरी घेरगाथाएँ और सौंदर्य की कहण कथाएँ कहने वाली घेरीगाथाएँ, अपनी भाषा और भाव के कारण वेद-गीत और काव्य-गीतों के बीच की कड़ी मगती हैं ।

विशेषतः निवृत्ति प्रधान गाथाओं से वैराग्य-गीतों को बहुत प्रेरणा मिल सकी । इन वीतराग भिक्षुओं का विहंग, वन, पर्वत आदि के प्रति प्रशान्त अनुराग वैदिकालीन प्रकृति-प्रेम का सहोदर है ।

मुनीला मुसिसा मुपेखुणा सच्चित्तपत्तच्छदना विहङ्गमा,
समञ्जुषोसत्थ नित्ताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि भायिन् ।

घेरगाथा, ११३६

(जब तुम वन में ध्यानस्थ बैठे होगे तब गहरी नीली ग्रीवावाले सुंदर शिखा-गेभी तथा शोभन चित्रित पंजों से युक्त आकाशचारी विहंगम अपने सुमधुर स्वरों द्वारा, घोषभरे मेघ का अभिनदन करते हुए सुम्हें आनंद देंगे ।)

यदा बलाका मुचिपिण्डरच्छदा कालस्स मेघस्य भवेन तज्जिता,
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी आजकरणी रमेति मं ।

घेर० ३०७

[जब ऊपर (आकाश में) श्याम घनघटा से समीत बभुलो की पांत अपने अज्ज्वल श्वेत पक्ष फैलाकर आश्रय खोजनी हुई वसेरे की ओर उड़ चलती है, तब नीचे उनका प्रतिबिम्ब लेकर प्रवाहित) अजकरणी नदी मेरे हृदय में प्रसन्नता भर देती है ।]

अंगारिनी दानि दुमा भदन्ते फलेसिनी छदनं विप्पहाय,
ते अच्चिमन्तो व पभामयन्ति समयो महावीर भगीरसानं ।

दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसो पवन्ति,
पत्त पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर ।

थेर० ५२७-२८

(नयी कोपलो से अगारारुण वृक्षो ने फल की साध से जीर्ण-शीर्ण पल्लव-परिधान त्याग दिया है । अब वे लो से युक्त जैसे उद्भासित हो रहे हैं । हे वीरधेष्ठ ! हे तचागत ! यह समय नूतन आशा से स्पन्दित है ।

दुमाली फूलों के भार से लदी है, सब दिशाएँ सौरभ से उच्छ्वसित हो उठी हैं और फल को स्थान देने के लिए दल झड़ रहे हैं । हे वीर ! यह हमारी यात्रा का मंगल मुहूर्त है ।

भिक्षुणिया भी अपने नखर सौंदर्य का परिचय देने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाती हैं "

कालका भ्रमरवण्णसदिसा वेत्थितग्गा मम मुद्धजा अहु,
ते जराय सालवाक सदिसा सच्चवादि वचन अनञ्जया ।
काननस्मि वनखण्डचरिणी कोकिला व मधुर निक्खजित,
त जराय खलित तहि-तहि सच्चिवादि वचन अनञ्जया ।

थेरगाथा २५२-६१

[भ्रमरावली के समान सुचिक्कण काले और घुघराले मेरे अलक गुच्छ जरा के कारण आज सन और वस्कल जैसे हो गए हैं । (परिवर्तन का चक्र इसी क्रम से चलता है) सत्यवादी का यह वचन मिथ्या नहीं ।

वनखण्ड में सचरण करती हुई कोकिला की कुहक के समान मधुर मेरे स्वर का संगीत आज जरा के कारण टूट-टूटकर बेसुरा हो रहा है । (ध्वस का क्रम इसी प्रकार चलता है) सत्यवादी का यह कथन अग्न्या नहीं ।]

संस्कृत-काव्य में श्रौष की व्यथा से कर्णार्द्र ऋषि या नहीं उठा, जीवन के तार सभालने लगा और इस प्रकार कुछ समय तक रागिनी मूक रहकर तारों की झंकार सुनती रही । पर काव्य का राग जब मीन हो जाता है, तब लोक उम लय में सभाल लेता है, इसी से गीत की स्थिति अनिश्चित नहीं हो सकती । संस्कृत माटकी और प्राकृत नाट्यों में जो गीत हैं, वे तत्कालीन लोकगीत ही कहे जाएंगे । यह प्राकृत-गीत लोक की भाषा और मरल मधुर शब्दावली के द्वारा प्रकृति और जीवन के बड़े सुंदर चित्र अंकित कर मने हैं ।

भाव की भाषिकता तथा अभिव्यक्ति की मरल शैली की दृष्टि से हिंदी गीतिकाव्य प्राकृत-गीतों का बहुत आभारी है—

एकवचनपरिवर्णपहार समुद्दे कुरङ्गमिदुणम्मि ।

वाहेण मण्णुविअलन्तवाह धोअ धणु मुक्कम् ॥

गाथासप्तशती ७-१

(मृग-मृगी के जोड़े में से जब प्रत्येक दूसरे को बाण से बचाने के लिए लक्ष्य के सामने आने लगा, तब करुणार्द्र व्याध ने आंसुओं से धुला धनुष रख दिया ।)

धरपवणरअगलत्थिअ गिरि ऊडावडणभिण्णदेहस्स ।

धुवकाधुवकईजीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥

गाथा० ६-८३

(जब प्रचंड पवन ने उसे गला पकड़कर पर्वतशिखर से नीचे फेंक दिया, तब छिन्न-भिन्न शरीर वाले काले मेष के भीतर विद्युत् प्राण के ममान धुकधुका उठी ।)

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ यत्ताआ ।

णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ सय-मुत्ति अ ॥

गाथा० १-५

[देखो, कमल के पत्र पर बलाका (घकी) कैंसी निश्चल निःस्पंद बैठी है । वह तो निर्मल मरकत के पात्र में रखी हुई पल्लववृत्ति जैसी लगती है ।]

इस प्रकार के, कही करुण, कहीं सजीव और कहीं सुंदर चित्रों की सरल मामिकता ने हमारे लोक-गीतों पर ही नहीं, पद-साहित्य पर भी अपनी छाया डाली है ।

हिंदी गीति-काव्य में भारतीय गीति-परंपरा की मूल प्रवृत्तियों का आ जाना स्वाभाविक था । तत्त्व-चिंतन और उससे उत्पन्न रहस्यानुभूति, प्रकृति और मनुष्य का सौंदर्य-दर्शन, स्वानुभूत सुख-दुःखों की चित्रमय अभिव्यक्ति आदि ने इन गीतों को विविधता भी दी है और व्यापकता भी ।

कबीर के निर्गुण-गीतों ने ज्ञान की फिर गेयता देने का प्रयत्न किया है ।

‘मैं तैं तैं मैं ए हैं नाहीं । आपैं अघट सकल घट माहीं ।’ जैसे पदों में वेदांत मुल्लरित हो उठा है और—

‘गगन-मडल रवि समि दोई तारा । उलटी कूची सामि किंवारा ।’ आदि चित्रों में साधनात्मक योग की रूप-रेखाएँ अंकित हैं ।

रूपक-पद्धति के सहारे जीवन रहस्यों का उद्घाटन भी हमारे तत्त्व-चिंतन में बहुत विकसित रूप पा चुका था ।

कबीर की

पाच सखी मिलि कीन्ह रमोई एक ते एक सयानी,

दूनों पार बराबर परमैं जेवँ मुनि अह जानो ॥

आदि पंक्तियों में व्यक्त रूपक-पद्धति का इतिहास कितना पुराना है, यह तब प्रकट होता है, जब हम उन्हें अथर्व के निम्न रूपक के साथ रखकर देखते हैं—

तन्त्रमेक युवती विरूपे अम्थाक्रम वयतः पण्मयूषम ।

प्राण्या तन्तुस्तिरित धत्ते अन्या नापवञ्जाते न गमातो अतम् ॥

[दो गौर श्याम युवतिया (उपा-रात्रि) क्रम से बार-बार आ-जाकर छ लूँटी वाले (ऋतुओ वाले) जाल को (विश्व रूप को) बुनती है। एक सूत्रो को (किरणो को) फैलाती है, दूसरी गांठती (अपने मे समेट लेती) है, वे कभी विश्राम नहीं करती, पर तो भी कार्य की समाप्ति तक नहीं पहुँच पाती।]

निर्गुण-उपासक तत्त्व-द्रष्टा ही नहीं, तत्त्व-रूप का अनुरागी भी है, अतः उसका मिलन-विरह समस्त विश्व का उत्सास-विपाद बन जाता है। प्रकृति वही एक परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अतः उससे मौंदर्य में गौरभ जैसा स्पर्श है, जो प्रत्येक का होकर भी किसी एक का नहीं बन सकता और भाव में आलोक जैसा रंग है, जो किसी वस्तु पर पड़कर उसमें भिन्न नहीं रहता।

निर्गुण-गायक अपने सुख-दुखों की अनुभूति को विस्तार देकर सामान्य बनाता है और सगुण गायक अपने सुख-दुखों को गहराई देकर उन्हें मक्का बनाता है। एक ज्ञान के लिए हृदयवादी है, दूसरा भाव के लिए रूपवादी।

सगुण-गीतो का आधार मौंदर्य और शक्ति की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने के कारण प्रकृति और जीवन का केंद्र-बिंदु बन गया है, अतः भावों की सबलता और रूपों की विविधता उसे घेरकर ही सफल हो सकती है। सस्रुत काव्यों के समान ही, इन चित्र और भावगीतों में प्रकृति विविध-रूपी है। वही वह अपनी स्वतंत्र रूपरेखा में यथार्थ है, वही हृदय के हर स्वर में स्वर मिलाने वाली रहस्यमयी सगिनी है, वही मनुष्य के स्वानुभूत सुख-दुखों की मात्रा बनाने का माघन है और वही आराध्य के मौंदर्य, शक्ति आदि को छाया है।

बरमत मेघवर्त धरनी पर

चपला चमकि चमकि चकचौंधति वरति सबद आघात,

अग्धाधुग्ध पवनवर्तक बन वरत फिरत उत्पात ।

—मूर

उपर्युक्त गीत में मेघ की चित्रमयता यथार्थ है, पर जब थड़ा देखकर विरह-शयिन मीरा पुकार उठती है—

मतवारो बादल आयो रे,

मेरे पी को सदेमो नहि लायो रे ।

तब हमें बादल की वही सजीव पर रहस्यमयी साधारणता मिलती है, जो मेघदूत के मेघ में यक्ष ने पाई थी। 'निमिदिन बरमत मयन हमारे' में वर्षा, रुदन की चित्रमय व्याख्या बाकर उपस्थित होती है और 'आहु धन रयाम की अनुहारि' जैंगी पतिनियों में शेष कृष्ण की छाया में उद्भासित हो कृष्ण जैंगी बन गया है। स्वानुभूति प्रसार इन गीतों में हृदयगत मर्म की चित्रमयता और बाह्य प्रकृति-

रूपों की व्यापकता दी है।

इनकी स्वरलहरी हमारे जीवन के विस्तार और गहराई में कितने स्थायी रूप में बस गई है, इसका परिचय काव्य-गीत और लोकगीत दोनों देते हैं।

भारतेंदु-पुंग हमारे साहित्य का ऐसा वर्षाकाल है, जिसमें सभी प्रवृत्तियाँ अकुरित हो उठी हैं, अतः गीत भी किसी मूली रागिनी के समान मिल जाते हैं तो आश्चर्य नहीं। ये गीत स्वतंत्र अस्तित्व न रखकर गद्य-रचनाओं के बीच में आये हैं, इसलिए विषय, भाव आदि की दृष्टि से इनका कुछ घधा हुआ होना स्वाभाविक है, पर इनमें कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी मिलेंगी जो अतीत और वर्तमान नीति-मुक्तकों को जोड़ने में समर्थ हैं। प्रकृति के सहज चित्र, यथार्थ की गाथा, राष्ट्रीय उद्बोधन और सामाजिक धार्मिक विवृतियों के प्रति व्यंग, भारतेंदु के गीतों की विविधता देते हैं।

भई आधि राति बन सनसनात,
पथ पछी कोउ आवन न जात,
जग प्रकृति भई अनु यिर सखात,
पातहु नहि पावत तदन हसन।

उपर्युक्त पंक्तियों में रात की रेखाओं में निःस्तब्धता का रंग है; पर जहाँ कवि ने प्रकृति के संबंध में परंपरा का अनुसरण मात्र करना चाहा, वहाँ वह सजीव स्पंदन खो गया—सा जान पड़ता है—

अहो कुञ्ज बन सता बिबध तून पूछत तोमों,
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मोसो।

भाव-गीतों में सगुण-निर्गुण गीतों की शैली ही नहीं, कल्पना का भी प्रभाव है—

मरम की पीर न जानत कोय।

... ..

नैनन में पुतरी करि रासों पथकन ओटि दुराय,
हियरे में मनहूँ के अतर कैसे सेउं लुकाय।

तरकालीन जीवन और समाज की विषमता की अनुभूति और प्राचीन समृद्धि के ज्ञान ने ध्यगमय यथार्थ-चित्रों और विषादभरे राष्ट्र-गीतों की प्रेरणा दी है—

घन गरज जल वरसै इन पर विपत्ति परै किन आई,
ये बजमारे तनिक न चौकत ऐसी जडता छाई।

... ..

भारत जननी जिय क्यों उदाम,
सँठी इकली कोउ नाहि पास।

विन देखहु यह उह ऋतुपति प्रकाश,
फूली सरसो वन करि उजास ।

पृथ्वी की मातृरूप में कल्पना हमारे बहुत पुराने सस्कार से सबध रखती है। अथर्व का पृथ्वीगीत चित्रमय और यथार्थ होने के साथ-साथ मातृवदना भी है—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्य ते पृथिविस्त्योनमस्तु ।

... ..

पवस्य माता भूमिः पुत्रो अह पृथिव्या ।

(ये तेरे पर्वत और तुषार से आच्छादित तुंग शिखर, ये तेरे वन हमारे लिए सुखकर हो। हे मातृ-भू! तू मुझे पवित्र कर, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ।)

छठी बोली के आरम्भ में जीवन, प्रकृति, नीति, राष्ट्र आदि पर आश्रित मुक्तक लिखे गये, परन्तु उनमें रोयता के लिए स्थान कम था। वास्तव में गीत सरल मधुर, परिचित और प्रयोग से मजी हुई शब्दावली से आकार और भावतीव्रता से आत्मा चाहता है और किसी भाषा के आदिमयुग में गीत सरल और प्राण को सामंजस्यपूर्ण स्थिति में मिलने के कारण उसका विकास कठिन हो जाता है। गीत अपनी घरती और आकाश से इस प्रकार बंधा है कि कुशल से कुशल गायक भी विदेशी भाषा में गा नहीं पाता।

छठी बोली में गीत हमें प्रबध-काव्यों में तब प्राप्त हुए, जब उससे हमारा हृदय परिचित हो चुका था, भाषा मज चुकी थी और भाव शब्द पर तुल चुका था। शुद्ध संस्कृत शब्दावली उसके वर्णवृत्त अनादने वाले कवियों पर संस्कृत-काव्यों का प्रभाव होता अनिवार्य ही था। रीतियुग के चमत्कार से सहानुभूति न रखने के कारण इन कवियों ने संस्कृत काव्यों की वह सौली अपनायी जिसमें प्रकृति की रेखाएँ स्पष्ट, सरल और जीवन के रंग जाने-बूझने से लगते हैं। 'सावेन' में चित्रकूट की वनवासिनी सीता—

विमलमन्जर स्वागत हेतु हिला करते हैं ।

... ..

तृण तृण पर मुक्ता-भार झिन्ना करते हैं ।

गाजर प्रकृति का जो शब्द-चित्र उपस्थित करती है, उसकी रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी है। इस प्रकार विरहिणी उमिला—

न जा अधीर धूल में,

दुग्धम् आ दुग्धम् मे ?

... ..

तुम्हारे हँसने में है पूरा हमारे रोने में मोती !

आदि में अपनी व्यथा की जो ध्वनिमय साक्षरता देनी है, उससे भी हमारा

पुरातन परिचय है। यशोधरा के मर्म-गीत ही नहीं, कवि के रहस्य-गीत भी सरल शब्दावली और परिचित भावों के कारण इतने ही निकट जान पड़ते हैं। इनमें तीव्र भावावेग नहीं, जीवन का स्वाभाविक उन्मूलन है, कभी-कभी अतिपरिचय से साधारण बन जाता है।

छायावाद व्यथा का सबेरा है, अतः उसके प्रभाती गीतों की सुनहली आभा पर आंसुओं की नमी है। स्वानुभूति को प्रधानता देने वाले इन सुख-दुःख-भरे गीतों के पीछे भी इतिहास है। जीवन व्यस्त तो बहुत था, पर उसके कर्माडंबर में सृजन का कोई क्रम न मिलता था। समाज-संस्कृति संबंधी आदर्शों और विस्वासों को एक पग में नापने के लिए, जिज्ञासा धामन से विराट् हुई जा रही थी। बहुत दिनों से शरीर का भ्रमन महते-महते हृदय विद्रोही हो उठा था। नवीन गम्यता हमें प्रकृति से इतनी दूर ने आई-थी कि पुराना रूप-दर्शन-जनित सस्कार खोई वस्तु की स्मृति के समान बार-बार कसक उठता था। राष्ट्रीयता की चर्चा और समय की आवश्यकता ने हमें पिछला इतिहास देखने के लिए अवसर दे दिया था। भारतेंदु-युग की विपादमयी ध्वनि—

‘अब तजहु वीरवर भारत की सब आमा’ ने असंख्य प्रतिध्वनियां जगाकर हमें अंतिम बार अपने जीवन की मूढम और व्यापक शक्ति की परीक्षा करने के लिए विवश कर दिया था।

आनंद से मनुष्य जब खंचल होता है तब भी गाता है, और व्यथा से जब हृदय भारी हो जाता है, तब भी गाता है, क्योंकि एक उसके हृत् को बाहर फैलाकर जीवन को सतुलन देता है और दूसरा उसकी निस्तब्धता में संवेदन की लहर पर लहर उठाकर जीवन की गतिरुद्ध होने से बचाता है।

गत महामुद्र की तमसा के विपाद-भरे प्रभात में दफिर से गीली धरती और क्रूरता से सूखा निरभ्र आकाश देखकर कवि के हृदय में प्रश्न उठना स्वाभाविक हो गया—जीवन क्या विषम खंडों का समूह मात्र है, जिसमें एक खंड दूसरे के विरोध में ही स्थिति रखेगा? हृदय क्या मांसल यंत्र मात्र है, जिसमें परस्पर पीड़ा पहुंचाने के साधनों का आविष्कार होता रहेगा? प्रकृति क्या लौहामार मात्र है, जिसमें एक-दूसरे को क्षत-विक्षत करने के लिए अयोध अस्त्र-शास्त्र ही गढ़े जाएंगे?

भारतीय कवि को उनके सब प्रश्नों का उत्तर जीवन की उसी मखडता में मिला, जिसकी छाया में लघु-गुठ, कौमल-कठोर, कुरू-मुदर सब सापेक्ष बन जाते हैं।

जीवन को जीवन में मिलाने के लिए तथा जीवन को प्रकृति से एक करने के लिए उसने वही सर्वात्मक हृदयवाद स्वीकार किया, जो सनकी मुक्ति में उसे मुक्त कर सकता था। जीवन की विविधरूप एकता के संग्रह में छायायुग के प्रति-

निधि गायको के स्वर मिला पर राग एक है—

अपने सुख-दुख से पुलकित,
मह भूतं विश्व सचराचर,
चिति का विराट वषु ममल,
मह सत्य सतत चिर सुन्दर !

—प्रसाद

जिस स्वर से भरे नवल नीरद
हूए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद्गद
जिस स्वर वर्षा ने भर दिए सरित-सर-सागर
मेरी यह धरा हुई घन्य भरा नीलाम्बर !
वह स्वर शर्मद उनके कठो मे गा दो !

—निराला

एक ही ती असीम उत्सास
विश्व मे पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि मे हरित-विलास
शान्त अम्बर मे नील विकास,
—पत

जीवन मे सामञ्जस्य को खोजने वाले कवि ने बाह्य विभिन्नता से अधिक अंतरतम की एकता को बहुत महत्व दिया और आधुनिक युग मे मनुष्य-निर्मित आदर्यों के स्थान मे प्रकृति की रहस्यमय स्वाभाविकता को स्वीकार किया। तत्त्वगत एकता और सौंदर्यगत विविधता ने एक ओर रहस्यगीतों के निराकार को अनंत रूप दिये और दूसरी ओर प्रकृति-गीतों के सौंदर्य को भाव के निरंतर एकाग्रोच्छ्वास मे बिस्तार दिया।

सगीत के पक्षो पर चलनेवाले हृदयवाद की छाया मे गीत विविधरूपी हो चडे। स्वानुभूत सुख-दुखो के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन-गीत, सौंदर्य की सजीवता देने वाले चित्रगीत, सबकी उपस्थिति सहज हो गई।

पर इस भागवत सर्ववाद मे इतिवृत्तात्मक यथार्थ की स्थिति कुछ बटिन हो जाती है। छायावाद की रूप-अमर्षि मे प्रकृति और जीवन की रस्ताएँ उलझकर मूढ तथा रंग भूल-निमग्न रहस्यमय हो उठते हैं। हमने विपरीत इतिवृत्त को बटिन रस्ताओं और निदिष्ट रंगों की आवश्यकता रहनी है, क्योंकि वह केवल उमी वस्तु को देखता है, जिसका उसे चित्र देना है—आसपास की रूपमर्षि के प्रति उसे कोई आकर्षण नहीं।

हमके अतिरिक्त भीन स्वयं एक आवावेश है और आवावेश मे वस्तुएँ कुछ अतिराशोचि के साथ देखी जाती हैं। माय ही गायक अपने सुख-दुखो को अधिक

से अधिक व्यापकता देने की इच्छा रखता है, अन्यथा गाने की आवश्यकता ही न रहे ।

इस प्रकार प्रत्येक गीत-भाव की गहराई और अनुभूति की सामान्यता से बंधा रहेगा । मिट्टी से ऊपर तक भरे पात्र में जैसे रत्नकण ही अपने भीतर पानी के लिए एक जगह बना देते हैं, वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए, जो भाव ही से मिल सके । इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता ।

छायावाद के गीतों का यथार्थ कभी भाव की छाया में चमकता है और कभी दर्शनार्थक आत्मबोध की ।

भाव की छाया मनुष्य और प्रकृति दोनों की यथार्थ रेखाओं को एक रहस्यमयता दे देती है—

सख ये काले काले बादल,
नील सिन्धु में खुले कमल दल !

—निराला

मे भेष रूप की जिस अनंत समष्टि के साथ है—

गहरे घुंघले घुले साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन,

—पन्त

मे मनुष्य भी उसी समष्टि में स्थिति रखता है ।

जीवन का सर्वगत भावन, बाह्य अनेकता पार कर अंतर की एकता पर आश्रित रहेगा, अतः—

चेतन समुद्र में जीवन
सहरोँ सा बिलर पड़ा है ।

—प्रसाद

मृण्मय दीपो में दीपित हम
साक्षर प्रकाश की भिक्षा सुपम ।

—पन्त

जैसी अनुभूतियों में यथार्थ की रेखाएँ धुल-मिल जाती हैं ।

इतना ही नहीं—

पीठ पेट दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक ।

जैसी पंक्तियों में भिखारी की जो यथार्थ रेखाएँ हैं, उनका कठोर बंधन भी आत्मबोध की अंतःफलगु को बाहर फूट निकलने से नहीं रोक पाता, इसी से ऐसे यथार्थ चित्र के अंत में कवि कह उठता है—

ठहरो अहो मेरे हृदय मे है अमृत मैं सींच दूँगा ।

—निराला

राष्ट्रगीतो मे भी एक प्रकार की रहस्यमयता का आ जाना स्वाभाविक हो गया । भारतेंदु-युग ने इस देश को सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों के बीच मे देखा, अतः 'सब भाति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा' कहना स्वाभाविक हो गया । खड़ी बोली के बैतालिको ने उसे प्राकृतिक समृद्धि के बीच मे प्रतिष्ठित कर 'सूर्यचंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है' कहकर भूतिमत्ता दी । छायावाद ने इन सौंदर्य मे सूक्ष्म स्पंदन की अनुभूति प्राप्त की—

अरुण यह मधुमय देश हमारा ।

बरसाती आँखो के बादल बनते जहाँ भरे कवणा-जन,
लहरें टकराती अनन्त की, पाकर कूल किनारा ।

—प्रसाद

भारतेंदु-युग के—'बलहु बीर उठि तुरत सब जयध्वजहि उड़ाओ' आदि अभियान-गीतो मे राष्ट्रीय जय-पराजय-गान के जो अकुर है, वे उत्तरोत्तर विवसित होते गए—

हिमाद्रि तुम शृंग से,
प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला,
स्वतंत्रता पुकारती ।

—प्रसाद

आदि अभियान-गीत सस्कृत के वर्णवृत्तो से रूप और अपने युग की रहस्यमयता से स्पंदन पाते हैं । राष्ट्रगीतो मे वही निर्धूम करुण दीप्ति है, जो मोम-दीपो मे मिलेगी ।

पुरातन गौरव की ओर प्राय सभी कवियों का ध्यान आकर्षित हुआ; क्योंकि बिना पिछले सांस्कृतिक मूल्यों के ज्ञान के मनुष्य नये मूल्य निर्दिष्ट करने मे असमर्थ रहना है—

जगे हम लगे जगाने विश्व
लोक मे फैला फिर आलोक,
व्योम-नम-मुञ्ज हुआ तब नाश
अखिल सृष्टि हो उठी अशोक ।

—प्रसाद

भूतियो ना दिगन्त छवि-जाल
उपोति चुम्बित जगती का माल ?

—पन्त

मन के गगन के
अगिलाप-घन उस समय
जानते थे वर्यण ही
उद्गीरण वज्र नहीं।

—निराला

इस प्रवृत्ति ने इन कवियों को एक ऐसी सांस्कृतिक पुच्छभूमि दी, जिस पर उनके निराशा के गीत भी आशा से आलोकोज्ज्वल हो उठे और व्यक्तिगत सुख-दुःख भी विशाल होकर उपस्थित हो सके।

काव्य-गीतो के साथ-साथ समानांतर पर चलनेवाली लोक-गीतों की परंपरा भी उपेक्षा के योग्य नहीं, क्योंकि वह साहित्य की मूल-प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखती आ रही है। प्रायः जब प्रबंधों के शखनाव में गीत का मधुर स्वर मूक हो जाता है, तब उसकी प्रतिध्वनि लोक-हृदय के तारों में गूँजती रहती है। इसी प्रकार गीत की रागिनी जब काव्य को कथा-साहित्य की ओर से बीत-राग बना देती है, तब वे कथाएँ सरल आस्थान और किंवदंतियों के रूप में लोक-काव्यों में कही-सुनी जाती हैं। जब आधुनिक जीवन की कृत्रिम चकाचौंध में प्रकृति पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है, तब सोक और भ्राम में वह जीवन के पार्श्व में खड़ी रहती है। जब बदती परिस्थितियों में रणकंकण खुल चुकते हैं, केसरिया बाने उतर चुकते हैं, तब लोक-गीत धीरे-रस को पुनर्जन्म देते रहते हैं।

इस प्रकार न जाने कितनी काव्य-समृद्धि हमें लोक-गीत लौटाते रहे हैं। इन गीतों के गायक जीवन के अधिक समीप और प्रकृति की विस्तृत स्पर्शित छाया में विकास पाते हैं, अतः उनके गीतों में भारतीय काव्य-गीतों की मूल प्रवृत्तियों का अभाव नहीं है। इन गीतों के संबंध में हमारी धारणा बन गई है कि वे केवल इतिवृत्तात्मक जीवन-चित्र हैं, परंतु उनका थोड़ा परिचय भी इसे भ्रात प्रमाणित कर सकेगा।

जैसे गीत के पद्य होने पर भी प्रत्येक तुकबंदी गीत नहीं कही जाएगी, इसी प्रकार लोक-जीवन के सब व्योरे गेयता नहीं पा सकते। इसका सबसे अतर्क्य प्रमाण हमें ग्राम्य जीवन में मिलेगा, जहाँ लोक का सारा ज्ञान-कोष कष्ट ही में रहता है। पशु संबंधी ज्ञान, खेती संबंधी विज्ञान, जीवन की अन्य स्थूल-सूक्ष्म समस्याओं के समाधान, सब पद्य की रूपरेखा में बघकर पीढ़ियों तक चलते रहते हैं। पर गेयता का महत्त्व इन तुकबंदियों में नहीं खो जाता। गीतों में उतना ही यथार्थ लिया जाता है, जितना भाव को भारी न बना दे। लोकगीतों में टेक की तरह आने वाला यथार्थ सूक्ष्म वायुमंडल को घेरने वाली दिशाओं के समान स्वर-लहरी को फैलाने के लिए अपनी स्थिति रखता है, उसे रुंध डालने के लिए

नहीं ।

हमारा यह बिना लिखा गीत-काव्य भी विविधरूपी है और जीवन के अधिक समीप होने के कारण उन सभी प्रवृत्तियों के मूल रूपों का परिचय देने में समर्थ है, जो हमारे काव्य में सूक्ष्म और विकसित होती रह सकी ।

प्रवृत्ति को चेतना व्यक्तित्व देने की प्रवृत्ति लोक-जीवन में अधिक स्वाभाविक रहती है, इसी से सूर्य-चन्द्र से लेकर वृक्ष-लता तक सब एक ओर सजीव, स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं और दूसरी ओर जीवन के साथ सापेक्ष स्थिति में रहते हैं ।

ग्राम की बिरहिणी बाला अपने उमी रात सोठने वाले पति के स्वागत का प्रवचन चद्रमा को सौंपने में कुठित नहीं होती—

आजु उअँ मोरे चदा जुन्हइया आंगन सीपै,

झिलमिल होहि तरइयाँ तो मोतियन चौक घरै ।

(हे मेरे चद्र, तुम आज उदय हो ! तुम्हारी बादनी मेरे आंगन को लीप-कर उज्ज्वल कर दे और ये झिलमिलाती तारिकाएँ मोतियों का चौक बन जावें ।)

प्रकृति के जीवन के साथ उनके जीवन का ऐसा संबंध है कि वे अपने सुल-दुःख, मयोग-वियोग सब में उसी के साथ हसना-रोना, मिलना-बिछुडना चाहते हैं—तभी तो पिता के घर से पतिगृह जाती हुई व्यक्ति बालिका वध कहती है—

मोरी डोलिया मजी है दुआर बाबुल तोरी पाहुनियाँ ।

फूलै जब अँगना की नीम फरै जब नारगिया,

सुष कर लीजी एक बार कूकै जब कोइलिया ।

बौरै जब वगिया का अमबा भूलत डारै सब सखियाँ,

पठइयो बिरज हमार धिरै जब बादरियाँ ।

(हे पिता ! द्वार पर मेरी डोली आ गई है । अब मैं तुम्हारी अतिथि हूँ । पर जब आंगन का नीम फूलों से भर जाए, नारंगी जब फलों से लद जाए और जब कोयल कूक उठे, तब एक बार तुम मेरी सुधि कर लेना ।

जब बाग का रसाल बौरने लगे, उमकी डाल पर सखियाँ भूला डालें और पावस की काली बदली धिर आवे, तब तुम मेरे गँया को मुँके लेने के लिए भेज देना ।)

इस चित्र के पार्श्व में हमारी स्मृति उस करुण मधुर शकुन्तला का चित्र आक देती है, जो पिता से लता के फूलने और मृगशावन के उत्पन्न होने का समाचार भेजने के लिए अनुरोध करती है तथा जिसके लिए कण्व वृक्ष-लताओं से कहते हैं—

समाज और व्यक्ति

समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की सार्वजनिक रक्षा के लिए, अपने विषम आचरणों में साम्य उत्पन्न करने वाले कुछ सामान्य नियमों से शासित होने का समझौता कर लिया है।

मनुष्य को समूह बनाकर रहने की प्रेरणा पशु-जगत् के समान प्रकृति से मिली है, इसमें संदेह नहीं; परंतु उसका क्रमिक विकास विवेक पर आश्रित है, अश्व प्रवृत्तिमात्र पर नहीं। मानसिक विकास के साथ-साथ उसमें जिस नैतिकता की उत्पत्ति और वृद्धि हुई उसने उसे पशु-जगत् में सर्वथा भिन्न कर दिया। इसी से मनुष्य-समाज समूह-मात्र नहीं रह सका, वरन् धीरे-धीरे एक ऐसी संस्था में परिवर्तित हो गया, जिसका ध्येय भिन्न-भिन्न सदस्यों को सौक्य सुविधाएँ देकर उन्हें मानसिक विकास के पथ पर आगे बढ़ाते रहना है।

आदिम युग का मनुष्य, समूह में रहते हुए भी पारस्परिक स्वार्थ की विवेचना और उसकी समस्याओं से अपरिचित रहा होगा। अनुमानतः सामाजिक भावना का जन्म परस्पर हानि पहुँचाने वाले आचरण से तथा उसका विकास नवीन स्थानों में उत्पन्न संगठन की आवश्यकता से हुआ है। किसी भी प्राणि-समूह को अपने जन्मस्थान में उतने अधिक संगठन की आवश्यकता नहीं होती जितनी किसी नये स्थान में होती है, जहाँ उसे अपने-आपको नवीन परिस्थितियों के अनुरूप बनाना पड़ता है। यदि उसकी सहजवृद्धि इस एकता की अनिवार्यता का बोध न कराती तो इस समूह-विशेष का जीवन ही कठिन हो जाता। मनुष्य जाति जब जीवन के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान करने वाले प्रदेशों में फैलने लगी तब उसके भिन्न-भिन्न समूहों को अपनी शक्तियों का दृढ़तर संगठन करने की आवश्यकता ज्ञात हुई, अन्यथा वे नयी परिस्थितियों और नये शत्रुओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ न हो पाते। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में बिखरी हुई उच्छृंखल शक्ति जाति के लिए दुर्बलता बन जाती है यह पाठ मनुष्य समूह ने अपने जीवन के आरंभ में ही सीख लिया था; इसी से वह उसे एकता के सूत्र

मे बाधकर अपने-आपको सबल बना सका। अनेक व्यक्ति एक ही स्थान में एक-दूसरे के निकट बसने लगे, परस्पर सहानुभूति और सद्भाव उत्पन्न करने के लिए एक-दूसरे की खाद्य और आच्छादन छीन लेने की प्रवृत्ति को रोकने लगे और विजाति से युद्ध के समय शक्ति को संगठित रखने के लिए अपने समूह विशेष के किसी अग्रगण्य वीर का शासन मानना सीखने लगे। विशेष सुविधाओं के लिए एकत्र यह मनुष्य समूह ही हमारे विकसित तथा अनेक नैतिक और धार्मिक बंधनों में बंधे सम्यक् समाज का पूर्वज कहा जा सकता है। आज भी जयम्प जातिपों के संगठन के मूल में यही आदिम युग की भावना मन्निहित है।

स्थान विशेष की जलवायु तथा वातावरण के अनुरूप एक जाति रंग-रूप और स्वभाव में दूसरी से भिन्न रही है और प्रत्येक में अपनी विशेषताओं की रक्षा के लिए स्वभावगत प्रेरणा की प्रचुर मात्रा रहती है। आत्मरक्षा के अतिरिक्त उन्हें अपनी जातिगत विशेषताओं की रक्षा भी थी, अतः उनमें व्यवहार के लिए ऐसे विशेष नियम भी बनने लगे, जिनका पालन व्यक्ति की आत्मरक्षा के लिए न होकर जाति की विशेषताओं की रक्षा के लिए अनिवार्य था। आत्मरक्षा की भावना के साथ-साथ मनुष्य में जाति की विशेषताओं की रक्षा की भावना भी बढ़ती गई जिससे उसके जीवन-सबधी नियम विस्तृत और जटिल होने लगे। समूह द्वारा निश्चित नियम सबधी समझौते के विरुद्ध आचरण करने वाले को दंड मिलने का विधान था, परंतु इस विधान द्वारा छिपाकर विरुद्धाचरण करने वालों को नहीं रोका जा सकता था। अतएव कालांतर में उन नियमों के साथ पारलौकिक सुख-दुखों की भावना भी बंध गई। मनुष्य की स्वभाव से ही अज्ञात का भय था, इसी से उसके निर्माण के सब कार्यों में एक अज्ञात कर्ता का निर्माण प्रमुख रहा है। इस अज्ञात का दंड और पुरस्कार मनुष्य के आचरण को इतना अधिक प्रभावित करता आ रहा है कि अब उसे महत्व में समाज के वास्तविक दंड और पुरस्कार के साथ एक ही तुला पर तोला जा सकता है। आरम्भ में यदि समाज के रोष या प्रसाद से उत्पन्न लौकिक हानि और लाभ आचरण के ढालने के कठोर साधे थे, तो पारलौकिक सुख-दुखों की भावना उस मानसिक संस्कार का दृढ़ आधार थी, जिससे आचरण को रूप मिलता है। इस प्रकार लौकिक सुविधा की नींव पर, नैतिक उपकरणों से, धर्मिकता का रंग देकर हमारी सामाजिकता का प्रभाव निर्मित हो सका। जिस क्रम से मनुष्य सम्यक्ता के मार्ग पर अग्रसर होता गया, उसी क्रम से समाज के नियम अधिकाधिक परिष्कृत होते गये और पूर्ण विकसित तथा व्यवस्थित समाज में वे केवल व्यावहारिक सुविधा के साधन मात्र न रहकर मदर्यों के नैतिक तथा धार्मिक विकास के साधन भी हो गये।

व्यक्ति तथा समाज का संबंध सापेक्ष कहा जा सकता है, क्योंकि एक के

अभाव में दूसरे की परिस्थिति संभव नहीं। व्यक्ति के स्वत्वों की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तित्व के लिए व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। एक सामाजिक प्राणी स्वतंत्र और परतंत्र दोनों ही है। जहां तक वैयक्तिक हितों की रक्षा के लिए निमित्त नियमों का संबंध है, व्यक्ति परतंत्र ही कहा जाएगा; क्योंकि वह ऐसा कोई कार्य करने के लिए स्वच्छंद नहीं जिससे अन्य सदस्यों को हानि पहुंचे। परंतु अपने और समाज के व्यक्तिगत तथा मार्वाजनिक विकास के क्षेत्र में व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र रहता है।

अवश्य ही इस विकास की व्याख्या प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की दृष्टि में नहीं कर सकता, अन्यथा इसकी परिभाषाएं समाज के सदस्यों की सहायता से स्थूल नहीं हो सकती। मनुष्य-जाति का, चर्वरता की स्थिति से निकलकर मानवीय गुणों तथा कला-कौशल की वृद्धि करते हुए सम्य और सुसंस्कृत होते जाना ही उसका विकास है। इस विकास की ओर अग्रसर होकर व्यक्ति समाज को भी अग्रसर करता है। व्यक्ति जब वैयक्तिक हानि-साम को केंद्रबिंदु बनाकर अपनी मार्वाजनिक उपयोगिता भूलने लगता है, तब समाज की व्यवस्था और उसके सामूहिक विकास में बाधा पड़ने लगती है, भिन्न-भिन्न स्वभाव और स्वार्थ वाले व्यक्तियों के आचरणों में कुछ विषमता अवश्य ही रहती है; परंतु जब इस विषमता की मात्रा सामंजस्य की मात्रा के समान या उससे अधिक हो जाती है, तब समाज की सामूहिक प्रगति दुर्गति में परिवर्तित होने लगती है। इस विषमता का चरम सीमा पर पहुंच जाना ही जाति को जन्म देता है, जिससे समाज की व्यवस्था को नयी रूप-रेखा मिलती है।

व्यक्ति समाज से पृथक् रह सकता है या नहीं, यह प्रश्न कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। यदि समाज का अर्थ संप्रदाय-विशेष समझा जावे, तो मनुष्य उससे स्वतंत्र रह सकता है, क्योंकि ऐसी स्वतंत्रता मनुष्य के मानसिक जगत् के अधिक समीप है। एक व्यक्ति अपनी विचार-धारा में जितना स्वतंत्र हो सकता है, उतना व्यवहार में नहीं हो सकता। मानसिक जगत् का एकाकीपन व्यावहारिक जगत् में संभव नहीं, इसी से प्राचीन काल में भी भिन्न-भिन्न मत और दर्शन वाले व्यक्तियों के पृथक्-पृथक् समाज नहीं बनाये गये। केवल आत्मापेक्षी जगत् में मनुष्य समाज से स्वतंत्र होकर रह सकता है। परंतु यदि समाज की परिभाषा ऐसा मनुष्य-समूह हो, जो पारस्परिक सहयोगापेक्षी है, तो उस समाज में व्यक्ति का नितांत स्वतंत्र होना किसी युग में भी संभव नहीं हो सका है। सम्य और असम्य दोनों ही स्थितियों में मनुष्य दूसरे मनुष्यों के सहयोग से अपना जीवन-मार्ग प्रस्तुत कर सका है। उसके लिए अन्न, वस्त्र जैसी साधारण परंतु आवश्यक वस्तुएं भी अनेक व्यक्तियों के प्रयत्न का फल हैं; यह स्वतः प्रमाणित है। उसकी भावना को जीवित रखने वाली कलाएं, उसके

बौद्धिक विकास को प्रशस्त बनाने वाला साहित्य और व्यवहार-जगत् में उसके जीवन को सुख और सुविधाएँ देने वाले भवन, ग्राम, नगर तथा अन्य अनिवार्य वस्तुएँ सबकी उत्पत्ति मनुष्यों के सहयोग से हुई है, इसे कोई अस्वीकार न कर सकेगा। युगों से व्यक्ति को सुखी रखने और उसके जीवन को अधिक पूर्ण तथा सुगम बनाने के लिए मानव-जाति प्रकृति से निरंतर युद्ध करती आ रही है। उसने अपनी सगठित शक्ति से पर्वतों के हृदय को वेध डाला, प्रपातों की गति बाधी, समुद्रों को पार किया और आकाश में मार्ग बनाया। मनुष्य यदि मनुष्य को सहयोग देना स्वीकार न करता तो न मानवता की ऐसी अद्भुत कहानी लिखी जाती और न मनुष्य अपनी आदिम व्यवस्था से आगे बढ़ सकता। मनुष्य जाति सगठन में ही जीवित रहेगी, जब तक यह सत्य है तब तक समाज की स्थिति भी सुदृढ़ रहेगी। सारे मनुष्य एक ही स्थान में नहीं रह सकते अतः उनके समूहों के विकासोन्मुख सगठन पर सारी जाति की उन्नति का निर्भर होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रकृति से ही सामाजिक प्राणी है, अपने स्वभाव में आमूल परिवर्तन किए बिना उसका समाज से पृथक् होना न संभव है और न वाछनीय।

✓ फिर भी यह कहना कि समाज व्यक्ति के संपूर्ण जीवन में व्याप्त है, सत्य की उपेक्षा करना होगा। साधारणतः माननीय स्वभाव का अधिकांश समाज के शासन में नहीं रहता, क्योंकि वह बंधन से परे है। मनुष्य के जीवन का जितना अंश धर्म, शिक्षा आदि की भिन्न भिन्न सामाजिक संस्थाओं के सन्तर्पण में आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित समझा जाता है और उतने ही से हम उसके विषय में अपनी धारणा बनाते रहते हैं। समाज यदि मनुष्यों का समूह मात्र नहीं है तो मनुष्य भी केवल क्रियाओं का समूह नहीं। दोनों के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और दुःखों की प्रेरणा है। जीवन केवल इच्छाओं या भावनाओं में उत्पन्न आचरणों की सेना के समान ब्यापक शिक्षा देने में ही व्यक्त नहीं हो जाता, वरन् उन इच्छाओं के उद्गमों को खोजकर उनसे मनुष्यता की महसूसी को आर्द्र करके पूर्णता को प्राप्त होता है।

इस दृष्टि में समाज की सत्ता दो रूपों में विभक्त हो जाती है। एक के द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार और आचरणों पर शासन करता है और दूसरे के द्वारा वह उनकी स्वाभाविक प्रेरणाओं का मूल्य आकर उनसे मानविक विकास के उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करता रहता है। किसी भी व्यक्ति को अपने लिए विशेष वातावरण ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ता, क्योंकि वह एक गृह विशेष में जन्म लेकर अपनी दृष्टि के साथ-साथ अन्य सामाजिक संस्थाओं के संपर्क में आता रहता है। जैसे उसे मान लेने के लिए वायु की खोज नहीं करनी पड़ती, उसी प्रकार वातावरण विशेष से भी वह अनभिज्ञ रहता है। उसकी व्यावहारिक-

कता और आध्यात्मिकता दोनों उसके अनजानपन में एक विसीय रूप-रेखा में बंधने लगती हैं और जब वह सजग होकर अपने-आपको देखता है तब वह बहुत कुछ बन चुका होता है। परंतु यदि व्यक्ति अपने इस रूप से संतुष्ट हो सके तो उसे निर्जीव मूर्तिपट्ट ही कहेंगे, जो किसी साचे में ढल सकता है, परंतु ढाल नहीं सकता। वास्तव में समाज के दान की जहाँ इति है, व्यक्ति का वही से अग्र होता है। वह दर्जों के सिले कपड़ों के समान पहले समाज के वैध सिद्धांतों को धारण कर लेता है और तब उनके तग या ढीले होने पर, सुंदर या कुरूप होने पर अपना मतामन देता है। इसी मतामन से समय-समय पर समाज को अपने पुराने सिद्धांतों को नया रूप देना पड़ता है। प्रगतिशील समाज में व्यक्तियों का समूह अग्न्योन्मथित ही रहेगा और उनका दान-प्रतिदान उपयोगिता की एक ही तुला पर, विकास के एक ही घाट से तोला जा सकेगा।

समाज की दो आधार-शिलाएँ हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री-पुरुष का संबंध। इनमें से यदि एक की भी स्थिति में विपमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।

अर्थ सामाजिक व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि उसके द्वारा जीवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त हो सकती है। बर्बरता तथा सभ्यता दोनों ही परिस्थितियों में मनुष्य अपने सुख के साधन चाहता है, अंतर केवल यही है कि एक स्थिति में अपने सुख के साधन प्राप्त करना व्यक्ति की शक्ति पर निर्भर है और दूसरी में सुख की सामग्री के समान विभाजन का अधिकार समाज को सौंप दिया जाता है। बर्बरता की स्थिति में शक्ति का उपयोग व्यक्तिगत हितों की रक्षा में निहित था, परंतु सभ्य समाज में शक्ति का उपयोग सार्वजनिक है। समाज अपने सदस्यों में प्रत्येक को, चाहे वह सबल हो चाहे निर्बल, सुख के साधन समान रूप से वितरित करने पर बाध्य समझा जाता है।

सब व्यक्तियों का शारीरिक तथा मानसिक विकास एक-सा नहीं होता और न वे एक-जैसे कार्य के उपयुक्त हो सकते हैं; परंतु समाज के लिए वे सभी समान रूप से उपयोगी हैं। एक दार्शनिक कृषक का कार्य चाहे न कर सके, परंतु मानव-जाति को मानसिक भोजन अवश्य दे सकता है। इसी प्रकार एक कृषक चाहे मानव-समूह को कोई वैज्ञानिक आविष्कार में न कर सके, परंतु जीवन-धारण के लिए अन्न देने का सामर्थ्य अवश्य रखता है। एक भवन बनाने में हमें ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो बनने से पहले कागज पर उसकी भावी रूप-रेखा अंकित कर सके; ऐसे व्यक्ति की सहायता भी चाहिए जो ईंट-पत्थर को जमाना और जोड़ना जानता हो और ऐसे व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा भी रहती है जो मिट्टी-ईंट प्रस्तुत करके निर्माता तक पहुंचा सकें। पृथक्-पृथक् देखने से किसी का भी कार्य महत्त्वपूर्ण न जान पड़ेगा, परंतु उनके संयुक्त

प्रयत्न से निर्मित भवन प्रमाणित कर सकता है कि उनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं था। समाज की भी यही दशा है। वह अपनी पूर्णता के लिए सब सदस्यों को उनकी शक्ति और योग्यता के अनुसार कार्य देकर उनके जीवन की सुविधाएँ प्रस्तुत करता है। जब इस नियम के विरुद्ध वह किसी को बिना किसी परिश्रम के बहुत-सी सुविधाएँ दे देता है और किसी को कठिन परिश्रम के उपरांत भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं से रहित रखता है, तब उसे लक्ष्य-भ्रष्ट ही कहना चाहिए, क्योंकि यह स्थिति तो बर्बरता में भी संभव थी। यदि उस स्थिति से मनुष्य सतुष्ट रह सकता तो फिर समाज की आवश्यकता ही न रह जाती। किसी भी सामंजस्यपूर्ण समाज में परिश्रम और सुख की यह विषमता संभव नहीं, क्योंकि यह उस समझौते के नितांत विपरीत है, जिसके द्वारा मनुष्य ने मनुष्य को सहयोग देना स्वीकार किया था। जो बरबर मनुष्य अपने एक सुख के लिए दूसरे के अनेक सुखों को छीन लेने के लिए स्वच्छंद था, उसी की उच्छृंखलता को समाज ने न्याय के बंधन में बांध लिया है। इस बंधन के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति फिर अपनी पूर्व स्थिति में लौट सकता है, यह इतने वर्षों के अनुभव ने अपेक्षाकृत स्पष्ट कर दिया है। कुछ व्यक्तियों के प्रति समाज का ऐसा अनुचित पक्षपात ही वह व्याधि है, जो उसके रक्त का शोषण करने-करने अंत में उसे निर्जीव कर देती है।

यह संभव है कि सबल दुर्बलों को अपनी बर्बर शक्ति के द्वारा बांधकर रख सकें, परन्तु यह अनिच्छा और परवशता से स्वीकृत सहयोग दायम्ब ही किसी भी अंश में न्यून नहीं कहा जा सकता। इतिहास प्रमाणित कर देगा कि ऐसे दासत्व बहुत काल के उपरांत एक अद्भुत सहारक शक्ति को जन्म देने रहें हैं, जिसकी बाड़ को रोकने में बड़े शक्तिशाली भी समर्थ नहीं हो सके। मनुष्य स्वभावतः जीवन को बहुत प्यार करता है, परन्तु जब सहयोगियों के निष्ठुर उत्पीड़न से वह नितांत दुर्बल हो उठता है, तब उसकी भयता घोरतम विरक्ति में परिवर्तित हो जाती है। पीड़ितों का समाधान संभव हो सकता है, परन्तु ऐसे हताश और जीवन के प्रति निर्मम व्यक्तियों का समाधान संभव नहीं। ऐसे व्यक्तियों का वेग आंधी के समान क्षणहीन, बाड़ के समान दिशाहीन और विद्युत के समान सक्षयहीन हो जाता है। धन सन्ध्या की मन-स्थिति ऐसी प्राति तक पहुँचा देना समाज की मनोविज्ञान-गूयता ही प्रकट करता है।

क्रांति युग की प्रवर्तिका है अवश्य, परन्तु उसका कार्य, प्रवाह की एक दिशा में रोककर दूसरी में से जाने के समान है, इसी में उस पड़ने लिसा इस मिटाना पड़ता है, सीखा हुआ भुताना पड़ता है और बमाया हुआ उठाकर पड़ता है। इसीलिए मुख्यवर्धन समाज विकास-मार्ग में दम-रककर गतव्य और दिशा की परीक्षा करना आवश्यक सम्पत्ति है। बाड़ से बचने के लिए

की उपयोगिता है। जल के प्रत्यक्षकर प्रवाह में चाहे वह न बच सके, परंतु उसका पूर्ववर्ती होकर अनेक आपात सहकर भी स्थिर रह सकता है। फिर यह आवश्यक नहीं कि ऐसी संहारक और सर्वभ्रागी त्रांति, सुंदर निर्मायक भी हो। तरंग का स्वभाव नट से टकराकर लौट जाना है, यह देखना नहीं कि तीर की समरेखा अधुण्य रही या नहीं रही। यह कार्य तो तट की दृढ़ता और प्रकृति पर निर्भर है। त्रांति के आपात से अपनी रूप-रेखा बचा लेना उगी समाज के लिए संभव है, जो उसके उद्गम और दिशा से परिचित हो और उसे महत् करने की क्षमता रखता हो। जिस समुद्र के अन्त और अग्नाह गर्भ में पर्वत खो गये हैं, उगी के तट से सबंध रखने वाले गोताखोर मोती निकाल लाते हैं और जिस उची लहर के सामने बड़े-बड़े पोत बह जाते हैं उसी में, तट पर आधार-स्तंभ के सहारे, मनुष्य स्नान करके निर्मल हो जाते हैं।

यदि समाज के पास ऐसा आधार-स्तंभ हो तो त्रांतियाँ उसे और अधिक निर्मल बना सकती हैं। इसकी अनुपस्थिति में निरुद्धस्य बहना ही अधिक संभव है, जो मनुष्य और समाज के युगदीर्घ बंधन को क्षिप्त किये बिना नहीं रहता।

स्त्री-पुरुष का संबंध भी अर्थ से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। समाज को बाधने वाला यह सूत्र कितना सूक्ष्म और दृढ़ है, यह उसके क्रमिक विकास के इतिहास से प्रकट हो जाएगा।

यह धारणा कि गृह का आधार लेकर समाज का निर्माण हो सका है आधुनिकता के आलोक में पुरानी मानी जावेगी। परंतु नैतिक दृष्टि से समाज-वृक्ष के मधन मूल का पहला अंकुर स्त्री, पुरुष और उसकी संतान में पनपा, इसे निर्मूल सिद्ध कर देना संभव नहीं हो सकेगा।

यदि यह ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बहुत काल से स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने के लिए माप-बंद रही है। नितांत बर्बर जाति में स्त्री केवल विनोद का साधन और अधिकार में रखने की वस्तु समझी जाती रही। आज भी जगती जातियों में स्त्री की वह स्थिति नहीं है जो मध्य युग, जिससे जाति तो लाभ उठाती थी, परंतु स्त्री उपयोगी यंत्र से अधिक गौरव नहीं पाती थी। तब स्त्री-पुरुष का संबंध भी अपने शक्ति विनोद और उत्तरदायित्वहीनता के कारण पशुत्व का ही एक रूप था। वह यदि पशुत्व से निःकृष्ट नहीं कहा जा सकता तो उत्कृष्ट होने का गर्व भी नहीं कर सकता। कही पुरुषों का समूह का समूह स्त्री-समूह से विवाहित था, कही एक पुरुष के अधिकार में पालतू पशुओं के समान बहुत-सी स्त्रियाँ थी और कही स्त्री की संख्या न्यून होने के कारण अनेक पुरुष एक स्त्री पर अधिकार रखते थे। सारांश

ह कि जहां जनसंख्या के अनुसार जैसी आवश्यकता थी वैसे ही नियम न गये।

जाति की वृद्धि और पुरुषों के मनोविनोद का साधन होने के अतिरिक्त श्री का कोई और उपयोग नहीं था। आनंद व अग्न्य उपकरणों के समान उन्हें उपस्थितियों से जीत लाना या सुयोग पाकर उनका अपहरण कर लाना साधारण-सी बात थी। स्त्री के हृदय है या उसकी इच्छा-अनिच्छा भी हो सकती है, यह आदिम युग के पुरुष की सहज बुद्धि से परे था, परंतु जैम-जैसे मानव-जाति पशुत्व की रिधि से बाहर आती गई, स्त्री की स्थिति में भी अंतर पड़ता गया। जाति की माता होने के नाते उसके प्रति कुछ विशेष आदर का भाव भी प्रदर्शित किया जाने लगा। जब और कैसे पुरुष तथा स्त्री के संबंध में उस आत्मिकता का जन्म हुआ जिसने समय के प्रवाह में परिप्लुत से परिप्लुततर होते-होते [ह] की नींव डाली, यह जान मचना कठिन है, परंतु अनुमानत दोनो की ही शक्ति और सहज बुद्धि ने उस अव्यवस्थित जीवन की त्रुटियां समझ ली होगी। सरस्वर सघर्ष में लगी हुई जातियों को तो इतना अवकाश ही न मिलता था कि वे जीवन की विशेष सुविधाओं का अभाव अनुभव करती। परंतु जब उन्होंने अपेक्षाकृत शांति से बसने का स्थान खोज निवास और जीवन के लिए कुछ सुविधाएं प्राप्त कर ली तब उनका ध्यान स्त्री की स्थायी उपयोगिता पर भी गया। पुरुष ने देखा, वह कभी थकत, कभी क्लेश और कभी रोगग्रस्त एकाकी है। ऐसी दशा में किली मृदुस्वभावा सहचरी के साहचर्य की ओर उसकी वृत्ति स्वातंत्र्य प्रभावित होने लगी तो आश्चर्य ही क्या है। अपने अभाव के अतिरिक्त पुरुष की अधिकार-भावना भी गृह की नींव डालने में बहुत सहायक हुई होगी। अपनी सलवार, अपने धनुष-बाण के समान पुरुष अपनी स्त्री और अपनी सतान कहने के लिए भी थातुर हो उठा। मनोस स्त्री को सघर्ष से बचाने और जाति को बीर पुत्र देने का गर्व करने के लिए भी यह आवश्यक था कि स्त्री एकांत रूप से उसी के अधिकार में रहती। स्त्री ने भी अनिश्चित और सघर्षमय बाह्य जीवन से थककर अपने तथा अपनी सतान के लिए ऐसा साहचर्य स्वीकार किया, जो उसे जीवन की अनेक असुविधाओं से मुक्त कर सकता था। इस साहचर्य के नियम बहुत काल तक कोई स्पष्ट रूप रेखा न पा सके, क्योंकि उस समय तक मनुष्य-समूह की स्थिति में भी निरंतर परिवर्तन होता रहता था।

जिस समाज में हर पुरुष तथा स्त्री के संबंध का प्राचीनतम रूप देख सकते हैं, वह वैदिक समाज है, परंतु वह अपनी संस्कृति और प्रगतिशीलता के कारण किसी भी अर्थ में आदिम काल का समाज नहीं कहा जा सकता। उस समय तक समाज की रूप-रेखा स्पष्ट और उद्देश्य निश्चित हो जाने के कारण स्त्री की

स्थिति में भी बहुत अंतर आ चुका था।

वेदकालीन समाज जीवन-धारण के लिए अनिवार्य अग्नि, इद्र, सूर्यादि का महत्व समझ चुका था; रात्रि, उषा आदि की अभिनव सुपमा देखकर भाव-विह्वल हो चुका था; नवीन स्थान में अपने सगठन को दृढतर करने के लिए वर्ण-व्यवस्था का आविष्कार कर चुका था और जाति की वृद्धि और प्रसार के लिए व्यक्ति को धर्म की दीक्षा दे चुका था। गृह के बिना पुरुष का कहीं बसना संभव नहीं और स्त्री के बिना गृह नहीं अतः स्त्री पुरुष की सहघमिणी निश्चित की गई। उन दोनों का उद्देश्य समाज को सुयोग्य सत्तान की मेंट देना और फिर उस सत्तान के लिए स्थान रिक्त करके अवकाश लेना था। उस समय जाति की विधात्री होने के कारण स्त्री आवश्यक और आदरणीय तो थी ही, साथ ही उसके जीवनचर्या संबंधी नियम भी अधिक कठोर नहीं बनाये जा सके। महघमिणीत्व के अभाव में भी समाज उसकी सत्तान को त्याग्य नहीं कह सकता था; सौभाग्य से शून्य होने पर भी समाज उसे गृहधर्म से निर्वा-सन-दंड न दे सकता था। वह मत्स्योदरी होकर भी राजरानी के पद पर प्रति-ष्ठित हो सकती थी, कुतू होकर भी मातृत्व की गरिमा से गुरु रह सकती थी और क्षीपवी होकर भी पतिव्रता के आसन से नहीं हटाई जा सकती थी। वह समाज की स्थिति के लिए पुरुष की सहघमिणी थी, पुरुष की अधिकार-भावना से बंधी अनुगामिनी मात्र नहीं। जैसे-जैसे भिन्न परिस्थितियों में उसकी सामाजिक उपयोगिता घटती गई, जैसे-जैसे पुरुष व्यक्तिगत अधिकार-भावना से उसे घेरता गया। अतः यह स्थिति ऐसी पराकाष्ठा को पहुँच गई जहाँ व्यक्तिगत अधिकार-भावना ने स्त्री के सामाजिक महत्व को अपनी छाया से ढक लिया। एक बार पुरुष के अधिकार की परिधि में पैर रख देने के पश्चात् जीवन में तो क्या, मृत्यु में भी वह स्वतंत्र नहीं। इस विधान ने ही विधवा की दयनीय स्थिति संभव कर दी। कदाचित् पहले यह विधान वर्णों के बंधन कुछ कठिन हो जाने पर उन सत्तानवती विधवाओं के लिए किया गया होगा, जिनको अपने बालकों का पालन उनके पिता के कुल और संस्कृति के अनुसार करना होता था।

प्रत्येक युग की सुविधा और असुविधाओं ने स्त्री-पुरुष के बंधन को विशेष रूप से प्रभावित किया है और प्रायः वह प्रभाव स्त्री की स्थिति में अधिक अंतर लाता रहा। शासकों में उसके प्रतिनिधियों की संख्या शून्य-सी रही है, अतः उसके सब विधान पुरुष की सुविधा के केंद्र-बिंदु बनाकर रचे गये। आध्यात्मिकता का सूक्ष्म अवलंब लेकर पुरुष के प्रति उसका जो कर्तव्य निश्चित किया गया है, उसमें उसके या समाज के हानि-नाश का विशेष ध्यान नहीं रखा जा सका, यह स्पष्ट है। पुरुष और स्त्री का संबंध केवल आध्यात्मिक न होकर

व्यावहारिक भी है, इस प्रत्यक्ष सत्य को समाज न जाने कैसे अनदेखा करता रहा है। व्यावहारिकता में एक व्यक्ति को दूसरे के लिए जो त्याग करना पड़ता है, उसके उपयुक्त मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देना आध्यात्मिकता का कार्य और आध्यात्मिकता में जिस यथार्थता का स्पर्श हम मुला देते हैं, उसे स्मरण कराते रहना व्यावहारिकता का लक्ष्य है। जब तक दास्य सबंध में पशुत्व देवत्व में धुलकर नहीं आता और देवत्व साकार बनकर नहीं अवतीर्ण होता, तब तक वह अपूर्ण ही रहेगा।

जैसे-जैसे हमारा समाज अपने आधे सदस्यों से अधिकारहीन बलिदान और आत्म-मर्पण लेता जा रहा है, वैसे-वैसे वह भी अपने अधिकार खोता जा रहा है, यह समाज के असंतोषपूर्ण वातावरण से प्रकट है।

आज के समाज की जो स्थिति है, उसकी उपयुक्त परिभाषा कठिनाई से दी जा सकेगी। वह कुछ विशेष अधिकार-संपन्न और कुछ नितांत अधिकारशून्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो उपयोगिता से नहीं बरन् परंपरागत धारणा से बंधा है। वही सतोप की अतिवृष्टि है और वही असंतोष की अनावृष्टि, जिससे सामाजिक जीवन का सामंजस्य नष्ट होता जा रहा है।

हमारा समाज अब प्राचीन काल का सुमंगलित मानव-समूह नहीं रहा, जिनके हाथ में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी व्यवस्थाएँ थीं। अब भिन्न भिन्न समाज स्वयं अपना शासन नहीं करते बल्कि सदस्यों में सबंध रहना संभव नहीं जो प्राचीन सगठनों में मिल सकता था। इस प्रकार शासन-सत्ता से हीन होकर समाज दब और पुरस्कार की विशेष क्षमता नहीं रखता। आरम्भ में उसने अपनी इस क्षति की पूर्ति का साधन धर्म को बनाया, जिससे सामाजिक बंधन बहुत बटिन और दुर्लभ हो उठे। धर्म जब मनुष्य के भावना-द्वार से हृदय तक पहुँचता है तब उसके प्रभाव से मनुष्य की विचारधारा वैसे ही विचलित हो उठती है जैसे भलय-भमीर से बली। परन्तु वही धर्म जब मनुष्य की बुद्धि पर बलात् काल दिया जाता है तब वह अपने भार से मनुष्य की कोमल भावनाओं को कुचल-कुचलकर निर्जीव और रसहीन बनाये बिना नहीं रहता। धर्म का शासन हमारे जीवन पर वैसा ही प्रयागहीन होना चाहिए, जैसा हमारी इच्छा-शक्ति का आच्छरण पर होना है। सप्रयास धर्म जीवन का मक्खे बड़ा अनिगाप है। न वह जीवन की गहराई तक पहुँच सकता है और न उसकी प्रत्येक क्षिति में व्याप्त होकर उसे रसमय ही कर सकता है। बीज को हम वृक्ष की मदद ऊँची ढाल के अग्रभाग के साथ बहुत ऊँचाई तक पहुँचा सकते हैं, परन्तु वहाँ उगे जमा गवना हमारी क्षमता के बाहर की बात है। उसे विकृति होकर आवास छूने के लिए पहने पृथ्वी की गहराई में जाना होता है, यह प्रवृत्ति का अन्तम नियम है। शासन-सत्ता के साथ, समाज की अन्य सामाजिक गत्याओं की

व्यवस्था पर भी अपना प्रभुत्व कम करना पड़ा जिससे समाज और सामाजिक संस्थाएं विकास-मार्ग में साथ-साथ न चल सकीं। नवीन परिस्थितियों में, समाज के सदस्यों को सुसंगठित होकर एक स्थान में बसने की सुविधा न मिलना भी सामाजिक बंधन की शिथिलता का कारण बन गया। कुछ व्यक्तिवाद ने और कुछ समाज की अव्यावहारिकता ने मनुष्य को अपनी सामाजिक उपयोगिता भूल जाने पर बाध्य कर दिया।

इस प्रकार अनेक बाह्य और आंतरिक, प्रकट और अप्रकट कारणों ने समाज का वह रूपांतर कर डाला, जिसे सामूहिक रूप से हमारी हानि हुई। कुछ प्राकृतिक परिस्थितियों पर हमारा बड़ा नहीं था, यह सत्य है, परंतु यदि हम उनके अनुरूप सामाजिक संगठन कर सकते तो ऐसी अराजकता नितांत असंभव हो उठती।

इस समय समाज में हमारा अभिप्राय संप्रदाय-विशेष या जाति-विशेष ही रहता है, जिसके भिन्न-भिन्न स्थानों में फैले हुए सदस्यों के आचरण और रीतियों में एक विशेष समानता रहती है। कुछ समय पूर्व तक यह समाज अपने इने-गिने अधिकारों का प्रयोग विवेक-शून्य निष्ठुरता के साथ करता रहा, परंतु इससे बंधने के स्थान में मारे सदस्य दूर-दूर होते गए। अब तो विवाह आदि के समय ही व्यक्ति अपने जाति-भाइयों की खोज करता है, परंतु यह अनिवार्यता भी धीरे-धीरे शिथिल होती जा रही है।

प्रत्येक जाति और संप्रदाय में कुछ उग्र विचार वाले, कुछ नवीनता के सघन उपासक और कुछ रुढ़िवादी अवश्य मिलेंगे। इनके बिखर जाने के कारण कुछ समाज ऐसे भी बन गये हैं जिनका आधार विचारधारा है, जाति या संप्रदाय नहीं। परंतु जाति के संगठन में यदि उपयोगिता का अभाव है तो इनमें व्यावहारिकता की शून्यता है। उग्र विचारवालों में विचार के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं, समत विचार वालों में पर्याप्त साहस नहीं और रुढ़िवादियों में व्यवहारकुशलता नहीं। समाज को ऐसा अपरूप देने का कुछ श्रेय पाश्चात्य सभ्यता को भी देना होगा, क्योंकि उसके अभाव में ऐसे परिवर्तन प्राकृतिक ढंग से आते। एक विदेशीय संस्कृति में पना समाज जब शासक के रूप में आ जाता है तब शासित जाति के संगठन में कुछ आकस्मिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। कोई भी पहले से प्रतिष्ठित संस्कृति न एकदम पराजय स्वीकार कर सकती है और न विजय में एकांत विश्वास ही रखती है। शासक और शासित समाज का सघर्ष उच्छृंखल भी हो सकता है और संयत भी, यह ऐतिहासिक सत्य है। किसी समय भारतीय संस्कृति और समाज को मुस्लिम संस्कृति से लोहा लेना पड़ा था और उस अग्निवर्षा से वह बहुत निकल आई। इस विजय का कारण उस सघर्ष का बाह्य और उच्छृंखल होना ही कहा जा

सहता है। किसी जाति की संस्कृति उसके शरीर का वस्त्र न होकर उसकी आत्मा का रस है, इसी से न हम उसे बलात् छीन सकते हैं और न चीर-फाड़ कर फेंक सकते हैं। उस रस का स्वाद बदलने के लिए तो हमें उससे अधिक मधुर औषधि पिलानी पड़ेगी। जब-जब बाहर की संस्कृति विवेक-शून्य होकर आई, उसे पराजय ही हाथ लगी, जब उसने विवेक बुद्धि से काम लिया तब अपने पीछे विजय की ज्वलत कहानी छोड़ती गई है।

पाश्चात्य संस्कृति ने हमें युद्ध की चुनौती न देकर मित्रता का हाथ बढ़ाया, इसी से हमारा उससे कोई बाह्य संघर्ष भी नहीं हुआ। वह हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं में प्रवेश पाते-पाते हमारे हृदय में प्रविष्ट हो गई और इस प्रकार बिना किसी संघर्ष के भी हमारे जीवन को उतना ही प्रभावित कर सकी जितना स्वयं हमारी संस्कृति कर सकती थी। उसके उपयोगिता या अनुपयोगिता के संबंध में बहुत कुछ कहा जाता रहा है और कहा जाता रहेगा, परंतु इतना दोनों ही दशाओं में सत्य है कि उसने हमारे सामाजिक दृष्टिकोण को बदल दिया है। शासक-संस्कृति होने के कारण यह अन्य संस्कृतियों के समान हमारी संस्कृति में विलीन होना नहीं चाहती, अन्यथा इससे हमारे विकास में कोई विशेष बाधा न पहुंचती। वर्तमान परिस्थितियों में उसने हमारे शिथिल समाज के भीतर एक ऐसे समाज का निर्माण कर दिया है, जिसकी आत्मा भारतीय और शरीर अभारतीय जान पड़ता है। इसे न हम साथ ले चल सकते हैं और न छोड़ सकते हैं। वह पश्चिमीय विचारधारा में ब्रह्मकर भी उससे घागित नहीं होता और भारतीयता में जीवित रहकर भी उससे प्रभावित नहीं होता।

संगठन की इन अनुविधाओं ने साथ-साथ विषम अर्थ-विभाजन और स्त्री की स्थिति समाज की नींव को खोपना बिये दे रही है—इसका उत्तरदायित्व समाज और शासन-विभाग दोनों पर है नहीं, परंतु उमंगे उत्पन्न, अध्यवस्था का अधिष्ठाता समाज को मिलता है। बेचल शक्ति से शासन हो सकता है समाज नहीं बन सकता, त्रिमूर्ती स्थिति मनुष्य के स्वच्छंद सहयोग पर स्थित है। निरकुश शासन शासन का अंत कर सकता है, निरकुश समाज मनुष्य को समाप्त कर देता है।

हमारा देश और राष्ट्रभाषा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकार और आत्मा दोनों दृष्टियों से महान् और सुंदर है। उसका बाह्य सौंदर्य विविधता की सामंजस्यपूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौंदर्य विविधता में छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणों की रेखाओं से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शुभ्यता ओढ़े हुए मरु हो, चाहे सावले भरे मेघ हो, चाहे लपटों में सात सेता हुआ बवंडर हो, सब अपनी भिन्नता में भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अंग का टूट जाना संपूर्ण देव-विग्रह को खंडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखंडता के लिए विविधता की स्थिति है।

यदि इस भौगोलिक विविधता में व्याप्त सांस्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनों का सग्रह-मान रह जाता। परंतु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अंतरात्मा को एक रसमयता में प्लावित करके इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि में बध जाता है।

हर देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुड़ा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता में है। तीसरी सबसे गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक गतिशीलता में है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास में योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आंतरिक और सूक्ष्म स्थितियाँ एक-दूसरी पर प्रभाव डालती और एक-दूसरी से सममित होती चलती हैं।

एक विशेष भू-खण्ड में रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, संपर्क और संपर्क अपने वातावरण से ही होता है और उससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका कर्म-जगत् ही संचालित नहीं होता, प्रत्युत अतर्जगत् और मानसिक संस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनियममयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनंत विकास-क्रम में घघकर ही एक विशेष भूमण्डल में स्पष्टित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी, पर्वत, वन का समूह है न शून्य में स्थिति रखने वाले मानवों की भीड़ मात्र। एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर में सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट सकल्प स्वप्न तक एक ही इकाई है, वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितियाँ क्षणजीवी होती हैं, परंतु उनके संस्कारों का जीवन अक्षय्य हो रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है, परंतु उसका सांस्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवरोध होने पर ही संभव है।

वैसे व्यापक अर्थ में मानव-संस्कृति एक ही है, क्योंकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का संस्कार-क्रम उनके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है। परंतु जैसे विकास की दृष्टि से धृष्ट एक होने पर भी उसका आधियों से लोहा लेने वाला तना, मद वायु के सामने झुकने वाली शाखाएँ, चिर चंचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सबका अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अंगों का गठन और विकास एकरूप नहीं होता, वैसे ही मानव-संस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पाषाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव में जितना समृद्ध है, अपनी आंतरिक विभूतियों में उससे कम गुरु नहीं। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनों को जोड़ने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकलकर एक समुद्र में मिलने के पहले अनेक धाराओं में बिखर-बटकर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर-भास के अंगों में रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुनः अनेक में लौट जाना ही शरीर की संचालन शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केंद्र-बिंदु को छूकर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रवृत्ति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएँ तत्त्वतः एक रही हैं, इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता में भी

एक ही हैं।

जहां तक भाषा का संबंध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कठ और कठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एकरूपता नहीं रहने देता। हमारे विद्याल राष्‍ट्र में विविध भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है; परंतु किसी भी जीवित-जाग्रत देश की भाषा को तुलना उन सिक्कों से नहीं की जा सकती, जो बाजार में क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुतः भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है; पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो मिट्टी, धूप, पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भू-भाग में रहने वाले मानव-समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ उस समूह के जीवन, सुख-दुःख, आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकांक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अतः भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न गवध में बंधी रहती है, क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं रहती। यदि हमारी धोड़ी-सी स्थूल आवश्यकताएं हैं, तो उन्हें व्यक्त करने के लिए इन्ने-यिन्ने शब्द-संकेत ही पर्याप्त होंगे।

किसी हाट में क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दों की सच्चा अधिक नहीं होती; परंतु जब हम अपने भाव-जगत्, विचार-मंथन, सौंदर्यबोध आदि को आकार देने बैठते हैं तब हमें ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, जो भाव के हर हल्के-गहरे रंग को व्यक्त कर सके, बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौंदर्य की हर सूक्ष्म स्थूल रेखा को ओक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते हैं कि उसे बोलने वाली जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। संस्कृति या संस्कृति निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिंतन, सकल्प, भाव तथा अनुभूति की दीर्घ और अटूट परंपरा छिपाये रहता है, इसी से संस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनों सीमाएं छूटा हुआ चलता है। भाषा संस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अतः वह भी अनेक संकेतों और व्यञ्जनाओं में ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अधकार के अनेक युग पार किये हैं; परंतु अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकांत सावधान रहा है। उसमें अनेक विचारधाराएं समाहित हो गईं, अनेक मान्यताओं ने स्थान पाया; पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसने अंतर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रतिबिंबित होकर उसे आलोक की रेखा

बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियों के समान भारतीय भाषाओं के बाह्य और आंतरिक रूपों में उत्सर्गत विशेषताओं का सीमित हो जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं, परंतु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चितन और भावजगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में दो हमारे पास हैं, भौगोलिक अखंडता और सांस्कृतिक एकता, परंतु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिसमें एक स्वतंत्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहां तक बहु भाषाभाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न भागों में भिन्न भाषाओं की स्थिति है। पर उनकी अविच्छिन्न स्वतंत्रता की परंपरा ने उन्हें सम-विषम स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतंत्रता आधी-तूफान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक संपर्क तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कपित कर देता है। वह ती रोम के कीटाणु साने वाले मंद समीर के समान सांस में समाकर शरीर में व्याप्त हो गई है। हमने अपने मपूर्ण अस्तित्व से उसके भार को दुर्बल नहीं अनुभव किया और हमें यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित देश पर, राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही सतुष्ट नहीं होता, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है न स्थायी। घटनाएँ संस्कारों में चिर जीवन पाती हैं और संस्कार के अक्षय बाहुक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नहीं रही, वह हमारे विद्वान् और संस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति में यदि हममें से अनेक उसके अभाव में जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं। पर रोग की स्थिति को स्थायी मानकर तो चिन्तना संभव नहीं होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उनके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न-साध्य है, क्योंकि शरीर को बाधने वाली शृंखला से आत्मा को जबड़ने वाली शृंखला अधिक दृढ़ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के संबंध में विवाद नहीं है; पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनों की लेकर ऐसी विवादपणा जागी है कि साध्य ही दूर में दूरतर होता जा रहा है। विवाद जब तर्कों की सीधी रेखा पर चलता है, तब सत्य निकट आ जाता है; पर जब उसके मूल में आशंका, अविश्वास और अनिच्छा

रहती है, तब कही न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।
 बाधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों का अंतर दूर कर एक देश को दूसरे देश के पास पहुँचा दिया है, जब अणुबम की अंतक छाया में भी अमर मानवता जाग उठी है और जब ध्वंस की लपटों के नीचे भी निर्माण के अंकुर फिर उठा रहे हैं तब हम अपने मनो की दूरी बढ़ाकर, संदेह के प्राचीर खड़े कर और विरोध के स्वरों में बोलकर अपनी महान् परंपराओं की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुंदर स्वप्न अनेक सुंदर स्वप्नों में समाकर जीवन को विराट् सौंदर्य देता है, एक शिव सकल्प अनेक शिव सकल्पों में लीन होकर मनुष्य को विशाल शिवता देता है, एक निष्ठापथ कर्म अनेक निष्ठापथ कर्मों से मिलकर विश्व को अक्षय गति देता है। इनके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं में मिलकर जीवन को निरूप कर देता है, एक अविश्वास अनेक अविश्वासों के साथ मनुष्य को असत्य कर देता है और एक आघात अनेक आघातों को पक्तीबद्ध कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौंदर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियों के साथ रहकर जिन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वयं उत्तर बन जाएंगे।

जहाँ तक हिंदी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओं की सहोदरा और एक विस्तृत विविधता-भरे प्रदेश में अनेक देशज वोलियों के साथ पलकर बड़ी हुई है। अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मगही, बुंदेली, बघेलखंडी आदि उसकी धूल में खेलने वाली चिर सहचरियाँ हैं। इनके साथ कछार और खेतो, मधान और भोपड़ियों, निर्जन और जनपदों में भूम-भूमकर उमने उमने आसु और रगोन हंसी का संबल पाया है।

साधकों ने अपने कमठल के पूत जन से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्य-वाद का स्वर्ण-मुकुट न इसकी धूलि-धूसरित उन्मुक्त पलकों को बाध सका है, न बाँध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल क्या उसे बुझा नहीं देगा।

जब राजतंत्र के युग में भी वह द्वार-द्वार पर समानता का असख जगाती रही, तब आज जनतंत्र के युग में उसके लिए प्रासाद की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जाएगी।

हिंदी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे हैं। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरों की परिकल्पना। हिंदी की विशेषता उसकी मुक्ति में रही है, इसका प्रमाण उसके शब्दकोश में मिल सकेगा। उसने देशज वोलियों तथा देशी-विदेशी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने में न कभी सकीर्णता दिखाई और न उन्हें अपना बनाने में दुविधा का अनुभव किया। परंतु विकसित परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई

सर्वमान्य रूप या मानदंड न हो, ऐसा संभव नहीं होता ।

आज हिंदी में साहित्य सृजन करने वालों में कोई बिहार का मगही-भाषी है, कोई मधुरा का ब्रज-भाषी । परंतु बुंदेलखंडी बोलने वाले राष्ट्रकवि मैथिली-शरण, वसवाड़ी बोलने वाले कविवर निराला और कुमाउनी बोलने वाले श्री मुमित्रानंदन जी क्या समान रूप से हिंदी के वरद पुत्र नहीं बहे जाते । यदि हिंदी को बिहारी हिंदी, अवधी हिंदी, बुंदेली हिंदी नहीं बनाया जा सकता है, तो उसका कारण हिंदी का वह सखिलिष्ट रूप और मूलगत गठन है, जिसके बिना कोई भाषा महत्त्व नहीं पाती ।

अंग्रेजी भाषा भाषी विश्व-भर में फैले हैं, उनमें देगज संस्कार भी हैं; परंतु हमसे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन सखिलि होना है और न उन नये नाम-करणों की आवश्यकता होती है । विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं में सबसे में यह सत्य है । परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है, पर परिवर्तन में अननिहित एक सारसम्भता उसके जीवन का प्रमाण है । जिधुं के वृद्ध होने तक धीरे-धीरे न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है, परंतु उसकी मूलगत एकता अभ्युष्ण रहकर उसे एक सज्ञा से घेरे रहती है । भाषा केवल संकेत लिपि नहीं है, प्रत्युत उसके हर शब्द के पीछे संचित वस्तु स्पष्ट रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है । अतः एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है ।

भाषा भी गढ़ी जाती है, परंतु वह एक कूभवार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अक्षुर निर्माण है । जिस प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नये लक्ष्य में जोड़कर हम उनके अप्रत्यक्ष आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं उसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियों से नये भाव, नयी वस्तु, नये विचार जोड़कर हम उसे नये रूपा से समृद्ध करते रहते हैं । हिंदी का प्राकृत से ब्रज-अवधी तथा उनमें खड़ी बोली तथा आने का क्रम जिनका आश्चर्यजनक है, उनका ही अनामास, क्योंकि जिस ओषधद्वय के साथ यह विकसित हुई, उससे इसका घरो और बीज का-ना संबंध था, जिसमें एक दूसरे पाना है और दूसरा पानर देता है ।

हिंदी अपना नैसर्गिक विमो में दान न नहीं चाहती । वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए । जिस नियम में नदी नदी की गति रोबने के लिए गिरा नहीं बन सकती, उसी नियम में हिंदी भी किसी मह-योगिनी का पद अवश्य नहीं कर सकती ।

यह आश्चर्यजनक गणित न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है जिसने कारण हिंदी के भाषी कर्तव्य को जिन्होंने पढ़ाना के हिंदी भाषा-भाषी

नहीं है। राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्य-कार, धर्म-संस्थापक, साधक और चिंतक हिंदी के जिस उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिंदी लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाएगी, क्योंकि स्वीकृति मात्र न गति है न गतव्य। वस्तुतः संपूर्ण भारत संघ को एकता के सूत्र में बांधने के लिए उसे दोहरे संबल की आवश्यकता है। एक तो आंतरिक जो मन के द्वारों को उन्मुक्त कर सके और दूसरा बाह्य जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशों के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नहीं है, क्योंकि दीर्घकाल से यह संत-साधकों की मर्मवानी बनकर ही नहीं, हाट बाजार की व्यवहार बोली के रूप में भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशों से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान खडि और अतीत मिथ्या हो जाएगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदों का केंद्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना भाजा और खरीदा है कि उसे किसी बड़ी शाल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यंत्रों के साथ अपनी सगति बैठा लेगी; परंतु तत्संबंधी विवादों ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्ठव को भी कुठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी विनमयी दुर्लभ लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का संदेश वहन करने में समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाएं दुर्लभ्य कैसे मानी जा सकती हैं। स्वतंत्रता ने हमें राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तंत्र और उसके संचालक भी उसके अपवाद नहीं हो सकते; परंतु हमारे पथ की सबसे बड़ी बाधा यह है कि हमारी स्वतंत्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अप-कार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय में पैठ सके ऐसा कोई बाण अंधेरे के तूणीर में नहीं होता। यदि हमारी आत्मा में विश्वास की निष्कप लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा को सीखना उसके साहित्य को जानना है, और साहित्य को जानना मानव-एकता की स्वानुभूति है। जब हम साहित्य के स्वर में बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर समुद्रों पर सेतु बांधकर, दुर्लभ्य पर्वतों को राजपथ बनाकर मनुष्य को सुख-दुःख-कथा मनुष्य तक अनायास पहुंचा देते हैं। अस्त्रों की छाया में चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियों के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं; पर मानव-एकता के पथ पर पड़ा कोई चरण-विह्वल अब तक नहीं मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब

तक भग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनंत युगों में जो मातृमूर्ति गढ़ी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से ब्रह्मातरम् तक एव, अखंड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिंदी केवल कठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका सदेश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बनकर निःशेष नहीं हो जाता, बरन् आत्मा से मिलकर अनंत स्वप्न-सकल्पों में फूलता-फलता रहता है।

हिंदी के धरातल पर सत रविदास और भक्त सूरदास पग मिलाकर चले हैं और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कथा मिलाकर खड़े हुए हैं।

जहाँ संप्रदायों की कठिन सीमाएँ भी तरल होकर मिल गईं, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी△

भाषा का प्रश्न

भाषा मानव की सबसे रहस्यमय तथा मौलिक उपलब्धि है। यैमे बाह्य जगत भी ध्वनि-मकुल है तथा मानव-जगत को भी अपनी सुन्दर-दुःसह जीवन-स्थितियों को व्यक्त करने के लिए कंठ और स्वर प्राप्त हैं।

चेतन ही नहीं, जड़ प्रकृति के गत्यात्मक परिवर्तन भी ध्वनि द्वारा अपना परिचय देते हैं। पशुपात से लेकर फूल के मिलने तक ध्वनि के जितने कठिन-कोमल आरोह-अवरोह हैं, निदाघ के हरहराते बबडर से लेकर वासंती पुलक तक लय की जो विविधतामयी मूछैना है, उसे कौन नहीं जानता। पशु-पक्षि-जगत के सम-विपम स्वरों की संस्थातीत गीतिमालाओं से भी हम परिचित हैं। परंतु ध्वनियों के इस सघात को हम भाषा की संज्ञा नहीं देते, क्योंकि इसमें यह अर्थवत्ता नहीं रहती, जो हृदय और बुद्धि को समान रूप से तृप्ति तथा बोध दे सके।

मानव कंठ को परिवेदा विरोध में जीवनाभिव्यक्ति के लिए जो ध्वनियाँ दायभाग में प्राप्त हुई थी, उन्हें उसने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से सर्वथा नवीन रूपों में अवतरित किया। उसने अपनी जीवनाभिव्यक्ति ही नहीं, उसके विस्तृत विविध परिवेदा को भी ऐसे शब्द-संकेतों में परिवर्तित कर लिया, जो विरोध ध्वनि मात्र से किसी वस्तु को ही नहीं, अक्षरी भाव और बोध को भी रूपायित कर सके और तब उस वाणी के द्वारा उसने अपने रागात्मक सस्कार तथा बौद्धिक उपलब्धियों को इस प्रकार सप्रथित किया कि ये प्रकृति तथा जीवन के क्षण-क्षण परिवर्तित रूपों को मानव चेतना में अक्षर निरंतरता देने की रहस्यमयी क्षमता पा सके।

मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति में सबसे अधिक समर्थ और अक्षर भाषा ही होनी है। वही मानव के आंतरिक तथा बाह्य जीवन के परिष्कार का आधार है, क्योंकि बौद्धिक क्रिया तथा मनोरोमों की अभिव्यक्ति तथा उनके परस्पर संबंधों को सप्रथित करने में भाषा एक स्निग्ध किटु अटूट सूत्र का कार्य

करती है। भाषा में स्वर, अर्थ, रूप, भाव तथा बोध का ऐसा समन्वय रहता है, जो मानवीय अभिव्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि तक विस्तार देने में समर्थ है।

मानव व्यक्तित्व के समान ही उसकी वाणी का निर्माण दोहरा होता है। जैसे मनुष्य का व्यक्तित्व बाह्य परिवेश के साथ उमने अतर्जगत के घात-प्रतिघात, अनुकूलता-प्रतिकूलता, समन्वय आदि विविध परिस्थितियों द्वारा निर्मित होता चलता है, उसी प्रकार उसकी भाषा असंख्य जटिल-सरल, अतर-बाह्य प्रभावों में गल-ढलकर परिणति पाती है। कालांतर में हमारा समग्र अतर्जगत, हमारी संपूर्ण बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता शब्द-संकेतों से इस प्रकार संप्रथित हो जाती है कि एक शब्द-संकेत अनेक अप्रस्तुत मनोराग जगा देने की शक्ति पा जाता है।

भाषा सीखना तथा भाषा जीना एक-दूसरे से भिन्न हैं तो आश्चर्य की बात नहीं। प्रत्येक भाषा अपने ज्ञान और भाव की समृद्धि के कारण ग्रहण करने योग्य है, परंतु अपनी लमघ बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता से साथ जीना अपनी सांस्कृतिक भाषा के सदर्म में ही सत्य है। कारण स्पष्ट है। ध्वनि का ज्ञान आत्मानुभव से तथा अर्थ का बुद्धि में प्राप्त होता है। शैशव में शब्द हमारे लिए ध्वनि-संकेत मात्र होते हैं। यदि हम ध्वनि पहचानने से पहले उसके अर्थ से परिचित हो जावें तो हम सभवतः बोलना न सीख सकें।

अतः यह कहना सत्य है कि वाणी आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है, जो समष्टि-भाव से अपने विस्तार के लिए भाषा का रूप धारण करती है। इसी से पाणिनि ने कहा है

'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्यान् मनोयुक्त विवक्षया।' (आत्मा बुद्धि के द्वारा सब अर्थों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है।)

मानव व्यक्तित्व जैसे प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित होता है, उसी प्रकार उसकी भाषा भी अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है और यह प्रभाव भिन्नता का कारण हो जाता है। परंतु भाषा सबधी बाह्य भिन्नताएँ पर्वत की ऊँची-नीची अनमिल श्रेणियाँ न होकर एक ही सागर-तल पर बने वाली लहरों से समानता रखती हैं। उनकी भिन्नता समष्टि की गति की निरंतरता बनाये रखने का लक्ष्य रखती है। उसे खंडित करने का नहीं।

प्रत्येक भाषा ऐसी त्रिवेणी है, जिसकी एक धारा व्यावहारिक जीवन के आदान प्रदान सहज करती है, दूसरी मानव के बुद्धि और हृदय की समृद्धि को अन्य मानवों के बुद्धि तथा हृदय के लिए संप्रेषणशील बनाती है और तीसरी अतः सलिला के समान किसी भेदातीत स्थिति की संयोजिका है।

हमारे विशाल देश की रूपात्मक विविधता उसकी आस्तुतिक एकता की

पूरक रही है, उसकी विरोधिनी नहीं। इसी से विशेष जीवन-पद्धति, चिंतन, रागात्मक दृष्टि, सौंदर्यबोध आदि के सबंध में तत्त्वगत एकता ने देश के व्यक्तित्व को इतने विघटनधर्मा विवर्तनों में भी सश्लिष्ट रखा है।

धरती का कोई खंड नदी, पर्वत, समतल आदि का संघात कहा जा सकता है। मनुष्यों की आकस्मिक रूप से एकत्र भीड़ मानव-समूह को संज्ञा पा सकती है। परंतु राष्ट्र की गरिमा पाने के लिए भूमि-खंड विशेष की ही नहीं, एक सांस्कृतिक दायभाग के अधिकारी और प्रबुद्ध मानव समाज की भी आवश्यकता होती है, जो अपने अनुराग की दीप्ति से उस भूमि-खंड के हर कण को इस प्रकार उद्भासित कर दे कि वह एक धिर नवीन सौंदर्य में जीवित और लय-यान हो सके।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिमकिरीटिनी भारत-भूमि ऐसी ही राष्ट्र-प्रतिमा है। ऐसे महादेश में अनेक भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है, किंतु उनमें से प्रत्येक भाषा एक वीणा के ऐसे सधे तार के समान रहकर ही सार्थकता पाती है, जो रागिनी की संपूर्णता के लिए ही अपनी झुंकार में अन्य तारों से भिन्न है।

सभी भारतीय भाषाओं ने अपनी चिंतना तथा भावना की उपलब्धियों से राष्ट्र-जीवन को समृद्ध किया है। उनकी देशगत भिन्नता, उनकी तत्त्वगत एकता से प्राणवती होने के कारण महार्घ है।

ज्वाला धरती की गहराई में कोयले को हीरा बनाने की क्रिया में सलग्न रहती है और सीप जल की अतल गहनता में स्वाति की बूंद से मोती बनाने की साधना करती है। न हीरक धरती की ज्वाला को साय लाता है, न मुक्ता जल की गहराई को, परन्तु वे समान रूप से मूल्यवान् रहेगे।

हम जिस संक्रांति के युग का अतिक्रमण कर रहे हैं, उसमें मानव जीवन की आसवी का कारण संवेदनशीलता का आधिक्य न होकर उसका अभाव है।

हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ हमारी मानसिक परतंत्रता का ऐसा प्रधि-बधन हुआ है, जिसे न हम खोल पाते हैं, न काट पाते हैं। परिणामतः हमारे विकास के मार्ग को हमारी छाया ही अवरुद्ध कर रही है।

अतीत में हमारे देश ने अनेक अंधकार के आयाम पार किये हैं, परंतु इसके चितको, माधको तथा साहित्य स्रष्टाओं की दृष्टि के आलोक ने ही पथ की सीमाओं को उज्ज्वल रखकर उसे अंधकार में खोने से बचाया है।

भाषा ही इस आलोक के लिए संचारिणी दीपसिंखा रही है। पावका नः सरस्वती△

जीने की कला

प्रत्येक कार्य के प्रतिपादन तथा प्रत्येक वस्तु के निर्माण में दो आवश्यक अंग हैं—तत्त्वविषयक विज्ञान और उस विज्ञान का त्रियात्मक प्रयोग। बिना एक के दूसरा अंग अपूर्ण ही रहेगा, क्योंकि बिना प्रयोग के ज्ञान प्रमाणहीन है और बिना ज्ञान के प्रयोग आधारहीन—अतः प्रत्येक विज्ञान में त्रियात्मक कला का कुछ अंग अवश्य रहता है और प्रत्येक त्रियात्मक कला भी अपने विज्ञान-विशेष की अनुगामिनी बनकर ही सफल होती है। ये दोनों इतने सापेक्ष हैं कि एक को जानने में दूसरे का जानना ही पड़ता है।

यदि हम रंग और उनके मिश्रण के विषय में जान लें, तूलिया आदि के विषय में जब कुछ समझ लें, परन्तु अभी इस ज्ञान की प्रयोग की बगौटी पर न चमके तो हमारा चित्रकला विषयक ज्ञान परीक्षण के बिना अपूर्ण ही रह जायेगा। इसी प्रकार यदि हम इस ज्ञान के बिना ही एकाएक रंग भरने का प्रयास करने लगे तो हमारा यह प्रयास भी असफल ही कहा जायेगा। चित्रकला की पूर्णता के लिए और सफल चित्रकार बनने के लिए हमें तत्सम्बन्धी ज्ञानव्यवस्था को जानकर प्रयोग में लाना ही होगा। यही अर्थ कलाओं के लिए भी सत्य सिद्ध होगा।

यदि हम ध्यान से देखें तो गगन में जीना भी एक ऐसी कला ज्ञान पहेला त्रिकोण में उपर्युक्त दोनों माधनों का होता अनिवार्य है। सामूहिक तथा व्यक्तिगत विभाग के लिए कुछ मिश्रणों का ज्ञान त्रिकोण आवश्यक है, उनका ही या उनमें भी कुछ अधिक आवश्यक उन मिश्रणों का उचित अवसर पर उपयुक्त प्रयोग भी समझ जाना चाहिए। यदि हम ऐसे मिश्रणों का भार जल्द-घर होते रहें त्रिकोण उपयुक्त प्रयोग हमें ज्ञान न हो, तो हमारी रचना उतनी ही भिन्न न होगी त्रिकोण बिना ज्ञान ही रंगों और समंन्वय का भार रहन करना पड़ता हो। इस प्रकार यदि हम बिना मिश्रण समझें उनका अनुपयुक्त प्रयोग करने लगे, तो हमारी बिना बिना अर्थ समझें बनानी शुरू की चाली के समान निर्धन हो उठेगी।

हमारे संस्कारों में, जीवन के लिए आवश्यक सिद्धांत ऐसे सूत्र रूप में सम जाते हैं, जो प्रयोग रूपी टीका के बिना न स्पष्ट हो पाते हैं और न उपयोगी। 'सत्यं ब्रूयात्' को हम सिद्धांत रूप में जानकर भी न अपना विकास कर सकते हैं और न समाज का उपकार, जब तक अनेक परिस्थितियों, विभिन्न स्थानों और विशेष कालों में उसका प्रयोग कर उसके वास्तविक अर्थ को न समझ लें—उनके यथार्थ रूप को हृदयमग्न न कर लें।

एक निर्दोष के प्राण बचाने वाला अमृत्यु उमकी अहिंसा का कारण बनने वाले सत्य से श्रेष्ठ ही रहेगा, एक क्रूर स्वामी की अन्यायपूर्ण आज्ञा को पानन करने वाले मेवक से उसका विरोध करने वाला अधिक स्वाभिभवत कहलाएगा और एक दुर्बल पर अन्याय करने वाले अत्याचारी को दमन कर देने वाले शोधजित से उसे दड देने वाला शोधी ससार का अधिक उपकार कर सकेगा। अन्य सिद्धांतों के लिए भी यही सत्य है और रहेगा।

सिद्धांतों को जितनी भारी गठरी लेकर हम अपने कर्मक्षेत्र के द्वार तक पहुंचते हैं, उतनी भारी बोझ लेकर कदाचित् ही किसी अन्य देश के व्यक्ति को पहुंचना पड़ता हो, परंतु फिर भी कार्यक्षेत्र में हमी सबसे अधिक निष्क्रिय प्रमाणित होंगे। कारण, हम अपने सिद्धांतों को उपयोग से बचा-बचाकर उसी प्रकार रखने में उद्देश्य की सिद्धि समझ लेते हैं, जिस प्रकार धन को व्यय से बचाकर रखने वाले कृपण उसके सचय में ही अपने उद्योग की चरम सफलता देख लेते हैं।

परिस्थिति, काल और स्थान के अनुसार उनके प्रयोग तथा रूपों के विषय में जानने का न हमें अवकाश है न इच्छा। फल यह हुआ कि हमारा जीवन अपूर्ण वस्तुओं में सबसे अधिक अपूर्ण होने का दुर्भाग्य मात्र प्राप्त कर सका।

आज तो जीने की कला न जानने का अभिघाप देश-व्यापक है, परंतु विशेष रूप से स्त्रियों ने इस अभिघाप के कारण जो कुछ सहन है उसे सहकर जीवित रहने का अभिमान करने वाले विरले ही मिलेंगे। यह सत्य है कि हमारे देश में व्यक्ति को इतना महत्त्व दिया गया था कि कहीं-कहीं हमें उसके विकास के साधन भी एक विचित्र बधन जैसे लगने लगते हैं। परंतु यह कहना अन्याय होगा कि उन प्राचीन युग के निवासियों ने व्यक्तिगत विकास को दृष्टिबिंदु बनाकर सामूहिक या सामाजिक विकास को एक क्षण के लिए भी दृष्टि से ओझल होने दिया। उनका जीवन-विषयक ज्ञान कितना वैयक्तिक किंतु व्यापक, स्थिर किंतु प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल और एक किंतु सामूहिक था, इसका प्रमाण हमें उन सिद्धांतों में मिल जाता है जिनके आकर्षण से हम अपनी अज्ञानावस्था में भी नहीं छूट पाते और इस ज्ञान का उन्होंने कितना उपयोग तथा प्रगतिशील प्रयोग किया, यह समाज के निर्माण और व्यक्ति के जीवन के पूर्ण विकास को दृष्टि में रखकर

सोजे गए साधनों से स्पष्ट हो जाता है। यदि हम शताब्दियों से केवल सिद्धांतों का निर्जीव भार लिए हुए सिधिल हो रहे हैं तो इसमें हमारा और हमारी परिस्थितियों का दोष है। यदि हम अपने जीवन को सजीव और सक्रिय बनाना चाहते, अपनी विशेष परिस्थितियों में उनका प्रयोग कर उनकी सामयिक अनुकूलता-प्रतिनूलता, उपयुक्तता, अनुपयुक्तता का निश्चय कर लेते और जीवन के ज्ञान और उसने क्रियात्मक प्रवाह को साथ बहने देते तो अवश्य ही हमारा जीवन उत्कृष्ट कला का निदर्शन होता।

हमने जीवन को उचित कार्य से विरक्त कर उसी के व्यवस्थापक नियमों को अपने पैर की बेंदियाँ बनाकर उन्हें भी भारी बना डाला, अतः आज यदि लक्ष्य तक पहुँचने की इच्छा भी भूल गये तो आश्चर्य ही क्यों होना चाहिए!

इस ममम भारतीय नारी के पास ऐसा कौन-सा विशिष्ट गुण नहीं है, जिसे पाकर किसी भी देश की मानवी देवी न बन सकती हो। उसमें उगम महानुक्ति की सीमा समाप्त है जिसके द्वारा मनुष्य धोर से धोरतर अग्निपरीक्षा हसते-हसते पार कर सकता है और अपने लक्ष्य के मार्ग में बाधाओं पर बाधाएं देख-कर नहीं सिहरता, उसमें यह त्याग है जो मनुष्य की दुष्ट-नै-शुद्ध स्वार्थवृत्ति को क्षण में नष्ट कर डालता है और उसे अन्य के कल्याणार्थ अपनी आहुति के लिए प्रस्तुत कर देता है, उसमें मनुष्य को देवता की पवित्र मंडा देने वाली वह पवित्रता है, जो मरना नहीं जानती तथा उगम हमारी मरुति का वह कोप है जिसकी बिनी अन्य के द्वारा रक्षा सम्भव ही नहीं थी। वह आज भी त्यागमयी माता, पवित्रता पत्नी, स्नेहमयी बहिन और आशावांरिणी पुत्री है, जब संसार के जागृत देवता की स्त्रियाँ भीतिव गुलामी पर अपनी युगजीर्ण मरुति ग्योछाकर विषे द रही हैं। इन्हें त्याग के, बलिदान के और स्नेह के नाम पर सब कुछ जाना है, परंतु जीन की वह कला नहीं जानी जो इन अतोविश गुणों को सजीव कर देगी।

जीर्ण-जीर्ण कुटीर में बसने वालों में भी बसाबिन्ही कोई ऐसा अभाग्य निर्धन होगा, जिसके उजड़े आंगन में एक भी मज्जन्तीया, त्यागमयी, ममतामयी स्त्री न हो।

स्त्री विम प्रकार अपने हृदय को चूर-चूर कर पापों की देव-प्रतिमा बन सकती है, यह देवता हो तो त्रिपुरारूप की दुष्टमूर्ति बानिका में सागमयी दुर्ग की परिचरिता होती हुई विषया की देवता चण्डिका को विनो ब्रह्मम व्यंजन के लिए अपने हृदय की, हृदय के समान ही त्रिपुरा रूप की दुष्टम-रूपनकर निर्मूल कर देगी है, मनीष और लक्ष्य के नाम पर बान स्त्रीर और मा को अमनुष्य दण्डियों के गहों का ब्रह्मण बना देगी है और इस पर भी दुर्ग की के अमदण के घट में बाँधों में रो बुद्ध जन भी इच्छा-द्वार नहीं जाने दे सकती।

अर्धांगिनी की विद्वन्ता का भार लिए, सीता सावित्री के अलौकिक तथा पवित्र आदर्श का भार, अपने भेदे हुए जीर्ण-शीर्ण स्त्रीत्व पर किसी प्रकार संभालकर श्रीतदासी के समान अपने मद्यप, दुराचारी तथा पशु में भी निकृष्ट स्वाभी की परिचर्या में लगी हुई और उमके दुर्व्यवहार को सहकर भी देवताओं से जन्म-जन्मांतर में उगी का सग पाने का वरदान मागने वाली पत्नी को देखकर कौन आश्चर्याभिभूत न हो उठेगा ? पिता के इगित मात्र से अपने जीवन-प्रभात में देखे रंगीन स्वप्नों को विस्मृति से ढंककर बिना एक दीर्घ निश्वास लिए अयोग्य-से-अयोग्य पुरुष का अनुगमन करने को प्रस्तुत पुत्री को देखकर किमका हृदय न भर आवेगा ? पिता की अट्टालिका और वैभव से वचित दरिद्र भगिनी को ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले भाई की कलाई पर मरल भाव से रक्षाबधन बांधते देख कौन विश्वास कर सकेगा कि ईर्ष्या भी मनुष्य का स्वाभाविक विकार है और अनेक साहसहीन निर्जिव-से पुत्रों द्वारा उपेक्षा और अनादर से आहत हृदय से, उनके मुख के प्रथन में लगी हुई माता को देख कौन 'क्वचित् कुमाता न भवति' कहने वाले को स्त्री-स्वभाव के गभीर रहस्य का अन्वेषक न मान लेगा ? परंतु इतनी अधिक सहनशक्ति, ऐसा अप्रतिम त्याग और ऐसा अलौकिक साहम देखकर भी देखने वाले के हृदय में यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि क्या ये दिभूतियां जीवित हैं ? यदि सजीवता न हो, विवेक के चिह्न न हों, तो इन गुणों का मूल्य ही क्या है ? क्या हमारे कोलू में जुता बेल कम सहनशील है ? कम यंत्रणाएं भोगता है ? शव हमारे द्वारा किये गये किसी अपमान का प्रतिकार नहीं कर सकता, सब प्रकार के आघात बिना हिले-डुले धांति से सह सकता है, हम चाहे उसे अतल जल में बहाकर मगरमच्छ के उदर में पहुँचा दें, चाहे चिता पर लिटाकर राख करके हवा में उड़ा दें, परंतु उसके मुख से न निःश्वाम निकलेगी, न आह, न निरंतर खुली पथराई आँखों में जल आवेगा, न अंग कंपित होंगे ! परंतु क्या हम उसकी निष्क्रियता की प्रशंसा कर सकेंगे ?

आज हिंदू स्त्री भी शव के समान ही निस्पंद है। मस्कारों ने उसे पक्षाघात के रोगी के समान जड़ कर दिया है, अतः अपने सुख-दुःख को चेष्टा द्वारा प्रकट करने में भी वह असमर्थ है।

इसके अतिरिक्त ऐसी सीमातीन सहिष्णुता की प्रशंसा सुनते-सुनते वह अब इसे अपने मर्म का आवश्यक अंग समझने लगी है।

जीवन को पूर्ण-से-पूर्ण रूप तक विकसित कर देने योग्य सिद्धांत उसके पास हैं, परंतु न उनका परिस्थिति-विशेष में उचित उपयोग ही वह जानती है और न उनका अर्थ ही समझती है, अतः जीवन और सिद्धांत दोनों ही भार होकर उसे वैसे ही संज्ञाहीन किये दे रहे हैं, जैसे ग्रीष्म की कड़ी धूप में शीतकाल के

भारी और गंमं वस्त्र पहने हुए पथिक को उसका परिधान । जीवन को अपने साचे में ढालकर सुंदर और सुडौल बनाने वाले सिद्धान्तों ने ही अपने विपरीत उपयोग से भार बनकर उसके सुन्दर जीवन को उमी प्रकार कुरूप और वामन बना डाला है जिस प्रकार हाथ का सुंदर कंकण चरण में पहना जाने पर उसकी वृद्धि को रोककर उसे कुरूप बना देता है ।

हिंदू समाज ने उसे अपनी प्राचीन गौरव-गाथा का प्रदर्शन मात्र बनाकर रत्न छोड़ा है । और वह भी मूक निरोह भाव से उसकी वहन करती जा रही है । शताब्दियों पर शताब्दियां बीती चली जा रही हैं, समय की लहरो में परिवर्तन पर परिवर्तन बहते आ रहे हैं, परिस्थितियां बदल रही हैं, परंतु समाज केवल स्त्री को, जिसे उसने दासता के अतिरिक्त और कुछ देना नहीं सीखा, प्रलय की उथल-पुथल में भी शिता के समान स्थिर देखना चाहता है । ऐसी स्थिरता मृत्यु का शृंगार हो सकती है, जीवन का नहीं । अवश्य ही मृत्यु में भी एक सौंदर्य है, परंतु वह जीवन के रिक्त स्थान को तो नहीं भर सकता ।

धन की प्रभुता या पूजीवाद जितना गहिर्त है उतना ही गहिर्त रूप धर्म और अधिकार का हो सकता है, फिर उसके विषय में तो कहना ही व्यर्थ है जिसे धन, धर्म और अधिकार तीनों प्रकार की प्रभुता प्राप्त हो चुकी है ।

समाज में उपार्जन का उत्तरदायित्व मिल जाने से पुरुष का एक प्रकार का पूजीपतित्व तो प्राप्त हो ही गया था, शक्ति अधिक होने के कारण अधिकार मिलना भी सहज-प्राप्य हो गया । इसके अतिरिक्त शास्त्र तथा अन्य सामाजिक नियमों का निर्माता होने के कारण वह अपने-आपको अधिक-से-अधिक स्वच्छंद और स्त्री को कठिन-से-कठिन बंधन में रखने में समर्थ हो सका ।

धीरे-धीरे बनते-बनते स्त्री को बाध रखने का सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक उपकरणों से बना हुआ यंत्र इतना पूर्ण और इतना सफलता-युक्त सक्रिय हो उठा कि उसमें दबकर स्त्री केवल सफल दासी के रूप में ही निकलने लगी । न उसकी मानसिक दासता में कोई अभाव था न्यूनता थी और न शारीरिक दासता में—विद्रोह तो क्या अपनी स्थिति के विषय में प्रश्न करना भी उसके लिए जीवन में यंत्रणा और मृत्यु के उपरांत नरक मिलने का साधन था । आज यंत्रों के युग में भी दासत्व के इस पुराने परंतु दृढ़ यंत्र के निर्माण-कौशल पर हमें विस्मित होता पड़ता है, क्योंकि इसमें मूक यंत्रणा सहने वाला व्यक्ति ही सहायता देने वाले के कार्य में बाधा डालता रहता है । मनुष्य को न नष्ट कर उसकी मनुष्यता को इस प्रकार नष्ट कर देना कि वह उस हानि को जीवन का सबसे उज्ज्वल, सबसे बहुमूल्य और सबसे आवश्यक लाभ समझने लगे, असंभव नहीं तो कठिनतम प्रयास साध्य अवश्य है । प्रत्येक बालिका उत्पन्न होने के साथ ही अपने-आपको ऐसे पराये घर की वस्तु मानने और बनने लगती है जिसमें न

जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है। विवाह के व्यवसाय में उसकी विद्या पासंग बने हुए ढेले के समान है, जो तुना को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है, कुछ उसके मानसिक विक्रम के लिए नहीं। उसकी योग्यता, उसकी कला पति के प्रदर्शन तथा गर्व की वस्तु है, उसे सत्य शिवं सुंदरम् तक पहुंचने का मायन नहीं; उसके कोमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष की इच्छानुकूल बनाने के लिए आवश्यक हैं, ममार पर कल्याण-वर्षा के लिए नहीं। न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उसका जीवन पुरुष के मनोरंजन तथा उसकी वशवृद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया। वातावरण भी धीरे-धीरे उसे ऐसे ही मूक आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत करता रहता है। गृहिणी का कर्तव्य कम महत्वपूर्ण नहीं यदि वह साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिह गृह को बचपन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है यदि उस पर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकांत रूप से निवेदित है यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता, तो यह दासता स्पृहणीय प्रभुता बन जाती। परंतु जिस गृह के द्वार पर भी वह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर-से-घोर अन्याय, नीच-से-नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उस गृह को बंदीगृह और पुरुष को कारारक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे!

इसमें सदेह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल गुणगुणांतर से चले आने वाले सिद्धांतों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार ही उठी है।

मनुष्यता के ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता का पापाण-प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाता है। एक स्थिति मनुष्य में ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलंक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वार्थ के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पंद सहिष्णुता के कारण पापाण-सी उपेक्षणीय—दोनों के मनुष्यत्व-युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेंगी जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुभूति, सक्रियता, स्नेह आदि गुणों को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुंदर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक

को अपने सिद्धांतों से सबध रखने वाली अतर्मुखी तथा उन सिद्धांतों के सक्रिय रूप से सबध रखने वाली बहिर्मुखी शक्तियों को पूर्ण विकास की सुविधाएँ देनी ही पड़ेंगी। वही वृक्ष पृथ्वीतल पर बिना अवलंब के अकेला खड़ा रहकर भ्रमों के प्रहारों को मलय-समीर के झोंकों के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल से युक्त रह सकेगा, जिसकी मूल-स्थिति शक्तियाँ विकसित और सबल हैं और उसी की मूल-स्थिति दृढ़ रह सकती है जो धरातल से बाहर स्वच्छंद वातावरण में सास लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तियाँ भी अतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नहीं रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर-ही-भीतर पाताल तक फैल गई हो, परंतु जीवन का व्यावहारिक रूप विकृत-सा होता जा रहा है। जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग में विचरण नहीं है किंतु ससार के कटकाकीर्ण पथ को प्रशस्त बनाना भी है। जब तक बाह्य तथा आंतरिक विकास सापेक्ष नहीं बनते, हम जीना नहीं जान सकते।

जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है। विवाह के व्यवसाय में उसकी विद्या पासग बने हुए देखे के समान है, जो तुला को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है, कुछ उसके मानसिक विकास के लिए नहीं। उसकी योग्यता, उसकी कला पति के प्रदर्शन तथा एवं की वस्तु है, उसे सत्य शिवं सुंदरम् तक पहुंचने का माधन नहीं; उसके कीमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष की इच्छानुकूल बनाने के लिए आवश्यक हैं, संसार पर कल्याण-वर्षा के लिए नहीं। न स्त्री को अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। उसका जीवन पुरुष के मनोरंजन तथा उसकी वशबुद्धि के लिए इस प्रकार चिरनिवेदित हो चुका है कि उसकी सम्मति पूछने की आवश्यकता का अनुभव भी किसी ने नहीं किया। बातावरण भी धीरे-धीरे उसे ऐसे ही मूक आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत करता रहता है। गृहिणी का कसंध्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं यदि वह साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकृत हो। जिह गृह को बचपन से उसका लक्ष्य बनाया जाता है यदि उस पर उसे अन्न-वस्त्र पाने के अतिरिक्त कोई और अधिकार भी होता, जिस पुरुष के लिए उसका जीवन एकांत रूप से निवेदित है यदि उसके जीवन पर उसका भी कोई स्वत्व होता, तो यह दासता स्पृहणीय प्रमुता बन जाती। परंतु जिस गृह के द्वार पर भी यह बिना गृहपति की आज्ञा के पैर नहीं रख सकती, जिस पुरुष के घोर-से-घोर अग्याय, नीच-से-नीच आचरण के विरोध में दो शब्द कहना भी उसके लिए अपराध हो जाता है, उस गृह को बंदीगृह और पुरुष को कारारक्षक के अतिरिक्त वह और क्या समझे!

इसमें संदेह नहीं कि ऐसी परिस्थिति का कुछ उत्तरदायित्व स्त्री पर भी है, क्योंकि उसे जीने की कला नहीं आती, केवल युगयुगांतर से चले आने वाले सिद्धांतों का भार लेकर वह स्वयं ही अपने लिए भार हो उठी है।

मनुष्यता के ऊपर की स्थिति को अपना लक्ष्य बनाने से प्रायः मनुष्य देवता का पापाण-प्रतिमा बनकर रह जाता है और इसके विपरीत मनुष्य से नीचे उतरना पशु की श्रेणी में आ जाना है। एक स्थिति मनुष्य से ऊपर होने पर भी निष्क्रिय है, दूसरी इससे नीची होने के कारण मनुष्यता का कलंक है। अतः दोनों ही स्थितियों में मनुष्य का पूर्ण विकास संभव नहीं। हमारे समाज में अपने स्वायं के कारण पुरुष मनुष्यता का कलंक है और स्त्री अपनी अज्ञानमय निस्पंद सहिष्णुता के कारण पापाण-मो उपेक्षणीय—दोनों के मनुष्यत्व-युक्त मनुष्य हो जाने से ही जीवन की कला विकास पा सकेगी जिसका ध्येय मनुष्य की सहानुमति, सक्रियता, रनेह आदि गुणों को अधिक-से-अधिक व्यापक बना देना है।

जीवन को विकृत न बनाकर उसे सुंदर और उपयोगी रूप देने के इच्छुक

जो अपने सिद्धांतों से सबध रखने वाली अतर्मुखी तथा उन सिद्धांतों के सक्रिय रूप में सबध रखने वाली बहिर्मुखी शक्तियों की पूर्ण विकास की सुविधाएँ देनी ही पड़ेगी। वही वृक्ष पृथ्वीतल पर बिना अवलंब के अकेला खड़ा रहकर भ्रमों के प्रहारों को मलय-समीर के झोंकों के समान सहकर भी हरा-भरा फल-फूल में युक्त रह सकेगा, जिसकी मूल-स्थिति शक्तिशाली विकसित और सबल है और उसी की मूल स्थिति दृढ़ रह सकती है जो घरातल से बाहर स्वच्छंद वातावरण में सास लेता है। जब बहिर्मुखी शक्तियाँ भी अतर्मुखी हो जाती हैं तब बाह्य सक्रियता नष्ट हुए बिना नहीं रहती। आज चाहे हमारी आध्यात्मिकता भीतर-ही भीतर पाताल तक फँस गई हो, परंतु जीवन का व्यावहारिक रूप विकृत-सा होता जा रहा है। जीवन का बिह्वल केवल काल्पनिक स्वर्ग में विषरण नहीं है किंतु संसार के कटककाकीणं पथ को प्रगल्भ बनाना भी है। जब तक बाह्य दयाभातरिक विकास सापेक्ष नहीं बनते, हम जीना नहीं जान सकते।